भारतीय विचारधारा

मधुकर

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

'ज्ञानपीठ'-लोकोदय-ग्रन्थमाला--हिन्दी-ग्रंथांक १०

भारतीय विचारधारा

मधुकर

भा र ती य ज्ञा न पी ठ का शी

ग्रन्थमालासम्पादक और नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन एम. ए., डालमियानगर

प्रकाशक,
अयोध्याप्रसाद गोयलीय,
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी,
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

प्रथम संस्करण ३०००
जनवरी १९५१
मूल्य दो रुपये

मुद्रक,
देवताप्रसाद गहमरी
संसार लिमिटेड,
काशीपुरा, बनारस

उन आँखों को

जिनमें पौ फट रही है

न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः ।
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया स्वस्थया धिया ॥

योगवासिष्ठ

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तकमें मैंने भारतीय विचारधाराको ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोणसे समुचित रूपमें उपस्थित करनेका प्रयास कर अज्ञताजन्य उन भ्रान्तियोंको दूर करनेकी चेष्टा की है जो जनसाधारणमें तो क्या विद्वानोंमें भी फैली हुई हैं। उदाहरणके लिए 'हिन्दी-शब्द-सागर' ने अद्वैत वेदान्तके मुख्य सिद्धान्त विवर्तवादकी यह परिभाषा दी है : "वेदान्तमें एक सिद्धान्त जिसके अनुसार ब्रह्माको सृष्टिका मुख्य उत्पत्तिस्थान और संसारको माया मानते हैं; परिणामवाद।" वेदान्तसे परिचित व्यक्तिके लिए यह देखना कठिन न होगा कि इस परिभाषाका कोई भी अंश सही नहीं है।

सर्वसाधारण तकको सुलभ बना सकनेके लिए मैंने पुस्तकको अधिकसे अधिक सरल और स्पष्ट बनानेका प्रयत्न किया है। सरलताकी रक्षाके लिए मैंने भारतीय विचारधाराका अन्यदेशीय विचारधाराओंसे तुलनात्मक अध्ययन, उसका व्यावहारिक पक्ष और तिथि निर्णय आदि ऐतिहासिक रुचिकी बातोंको छोड़ उसके प्रमुख दार्शनिक पक्षोंका ही निरूपण किया है। विवादास्पद और मतभेदवाले स्थलोंपर मैंने उसी दृष्टिकोणको अपनाया है जो मुझे उस विचारधाराके रूपके सर्वथा उपयुक्त जान पड़ा है।

मैं उन सभी लेखकोंका ऋणी हूँ जिनकी पुस्तकों और जिनके विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित लेखों आदिसे मैंने सहायता ली है। मैं उन सब महानुभावोंका हार्दिक कृतज्ञ हूँ जो अपनी सद्भावनाओंसे मुझे सदा उत्साहित करते रहे हैं। मैं अपने उन सहयोगी और मित्रोंको भी नहीं भूल सकता जिन्होंने इस पुस्तकमें रुचि दिखाई और जिनका सामीप्य मेरे जीवनकी अमूल्य निधि बन चुका है।

इलाहाबाद,
जनवरी, १९५१

—मधुकर

विषयकी

परिचय

किसी देशकी विचारधारामें ही उस देशकी आत्मा अपने प्रति जाग-

भूल-सुधार

पृष्ठ १२८ में २१वीं पंक्ति प्रेसकी असावधानीसे कुछ पुस्तकोंमें नहीं छप सकी है। वह इस प्रकार है--

है और जगत् उसका प्रतिविम्व है। यद्यपि प्रतिबिम्ब मिथ्या है तथापि

वे लोग ? क्या थे उनके विचार ?

भारतीय विचारधाराके अध्ययनके लिए, भारतीय मस्तिष्ककी क्रिया-प्रतिक्रियाको समझनेके लिए हमें आजसे लगभग तीन हजार वर्ष पहले लौट चलना पड़ेगा। अपने विकास क्रममें भारतीय विचारधाराने छह आस्तिक और तीन नास्तिक धाराओंको जन्म दिया। आस्तिकका अर्थ है वेदोंके प्रमाणको मानना। नास्तिकका अर्थ है वेदोंके प्रमाणको न मानना (दे०, मनु; २,११)। जैन, बौद्ध और चार्वाक नास्तिक हैं;

शेष सब आस्तिक। भारतीय विचारधाराकी गतिविधिको चार भागों में बांटा जा सकता है। वैदिक काल, जिसमें वेद और उपनिषद् आते हैं; महाभारत काल, जिसमें चार्वाक और गीता है; बौद्धिक काल, जिसमें जैन, बौद्ध विचारधारा और उसके सम्प्रदाय हैं; और उत्तर बौद्धिक काल, जिसमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्व और उत्तर मीमांसा हैं।

वैदिक कालमें आर्य भारतभूमिमें विजेता होकर आए थे। अतएव उनके जीवनमें उल्लास था, ऐश्वर्यको भोगनेकी कामना थी। उनकी दृष्टि आशावादी और बहिर्मुखी थी। वे मनोवाञ्छित फलकी प्राप्ति के लिए यज्ञोंका अनुष्ठान करते थे। धीरे धीरे वे इन बातोंसे उकताने लगे और उनकी बहिर्मुखी दृष्टि अन्तर्मुखी होने लगी। उन्हें कर्ममें रुचि न रही और वे ज्ञानकी ओर झुके। उपनिषदोंकी रचना हुई और ज्ञान-मार्गपर अग्रसर होनेसे विचारोंमें मतभेद होने लगे, दृष्टिकोण बदलने लगे जिससे तत्कालीन जीवनमें कुछ अव्यवस्था सी आ गई।

महाभारत काल तक आते आते विचारोंका विरोध बढ़ता ही गया। यहां तक कि चार्वाकने ज्ञान और कर्म दोनोंको व्यर्थ बताकर जीवनके सुखोंकी आसक्तिमें ही सब कुछ समझा। इस कालमें दो मुख्य सिद्धान्त मिलते हैं: यदृच्छावाद और स्वभाववाद। यदृच्छावादके अनुसार जगत् अकारण और केवल घटनावश ही उत्पन्न हो गया है और उसकी सब वस्तुएँ संयोगाश्रित ही हैं। स्वभाववाद मानता है कि जगत्की वस्तुएँ अपने अपने स्वभावके अनुसार ही बनीं हैं (स्वभावभाविनो भावान्)। चार्वाक विचारधाराका उद्गम यदृच्छावादसे ही है। इस कालमें सांख्य के विचारोंकी प्रधानता भी दृष्टिगोचर होती है जिसका स्पष्ट प्रभाव गीतापर पड़ा है। गीता इस कालीन जीवनकी विषमताको दूर करके उसमें सामञ्जस्य लानेका एक प्रयत्न है।

महाभारतकालमें पाई जानेवाली विभिन्न विचारधाराओंने एक इस प्रकारके अविश्वासको जन्म दे दिया कि मनुष्यको अपनी बुद्धिके

अतिरिक्त और किसीपर विश्वास कर सकना कठिन हो गया। जैन और बौद्ध विचारधाराएँ मनुष्यका अपनी बुद्धिपर ही विश्वास करनेका प्रथम आह्वान हैं। ये दोनों विचारधाराएँ वेदोंके प्रमाणमें आस्था नहीं रखतीं। बुद्धिपर ही विश्वास करनेसे इस कालमें तर्कप्रणालीका आविष्कार हुआ और अनुभवकी सत्यता या विश्वासोंकी परख तर्ककी कसौटीपर होने लगी। वेदोंकी नींवकी उपेक्षा करके बुद्धिकी नींव पर भव्य प्राचीरों का निर्माण होने लगा। वेदसे अधिक महत्त्व व्यक्ति और बुद्धिको दिया गया।

बौद्धिक कालकी प्रतिक्रियासे पुराने विश्वासोंको भारी धक्का लगा। वेदोंके प्रमाणमें आस्था रखनेवालोंको वैदिक शिक्षाओंकी रक्षा और व्याख्या तर्क और बुद्धि संगत आधारपर करनेकी आवश्यकता पड़ चली। नास्तिक विचारधाराके प्रतिपक्षमें आकर ही आस्तिक विचारधारा अपनी रूढ़ियोंसे छूटकर विकासकी पराकाष्ठा तक पहुँच सकी। उत्तर बौद्धिक कालमें आस्तिक विचारधाराने 'न्याय'में तर्क प्रणालीको विकसित किया, 'वैशेषिक'में परमाणुवादपर फिरसे दृष्टि डाली। जगत् और उसके अनुभवोंका विश्लेषण होने लगा। ज्ञानके साधनों और उसके सत्यको परख सकनेकी कसौटीपर अनुसन्धान होने लगे। 'पूर्वमीमांसा'में भाषा और व्याकरणके दृष्टिकोणकी सहायतासे वेदोंका प्रामाण्य स्थापित करनेका आयास किया गया। इस कालके सभी विचार पहले सूत्ररूपमें मिलते हैं। बादमें उनपर भाष्य लिख लिखकर उन्हें विकसित रूप दिया गया है। सूत्र रूपमें इस कालकी प्रत्येक विचारधारा एक कलीके समान थी जिसको कुसुमित होनेमें शताब्दियां तक लग जाती थीं। अनुमान होता है कि ये विचारधाराएँ सूत्रोंकी रचनासे पहले भी अलिखित रूपमें रही होंगी। सूत्रोंकी रचना शायद इस उद्देश्यसे की गई होगी कि जिन लोगोंने इन विचारधाराओंपर मौखिक उपदेश सुने थे वे सूत्रोंकी सहायतासे उन्हें याद रख सकते।

नित्यतामें अनुरक्त, जीवनके प्रति अनासक्त, अपनी आस्थामें चट्टान की भांति अटल और स्पष्टवादितामें निर्भीक—ऐसे थे भारतीय विचारक। गम्भीर होते हुए भी वे दुरूह नहीं थे, निराकारकी उपासना करते हुए भी काव्यरहित नहीं थे और जीवनको अपूर्ण जानकर भी उसकी उपेक्षा नहीं करते थे। वे जगत्को कर्म-क्षेत्र और जीवनको कर्म करनेका एक अवसर समझते थे। उनका विश्वास था कि सत्यका दर्शन ही अभीष्ट नहीं है, सत्यसे एकाकार हो सकनेका सतत प्रयत्न करते रहना ही जीवन का श्रेय है। सत्यके दर्शन करनेके लिए आत्माका स्वस्थ होना और हृदय का पवित्र होना अनिवार्य है। और यही है अतीत भारतका महान् सन्देश।

अपनी जीवनयात्राके इस अनन्त पथपर आज जब चारों ओरसे अन्धकार आच्छादित हो रहा है क्या ही अच्छा हो कि हम उनके दिए हुए 'प्रकाश'का सदुपयोग करनेकी क्षमता उत्पन्न कर लें।

वेद

वेद[1] 'विद्' धातुसे निकला है जिसका अर्थ है जानना। वेदमें हमें उस युगके मनुष्योंने जो कुछ जाना था उसका विवरण मिलता है। वेदोंका समय लगभग दो हजार संवत् पूर्व बताया जाता है। वेद आदिम मनुष्यके ज्ञान और उसकी मानसिक प्रवृत्तियोंका दर्पण है। प्राचीन ग्रंथोंमें 'वेदत्रयी' या 'त्रयी विद्या' के उल्लेखके आधारपर पता चलता है कि प्रारम्भमें तीन ही वेद थे, ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद। अथर्ववेद शायद बादको सम्मिलित किया गया था। वेद किसी पुस्तकका नाम न होकर पुस्तकोंके समूहका नाम है। सारे वेद संहिता (सम = साथ साथ, हित = रखना), ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् भागोंमें विभक्त हैं। संहिताएं वेदका मंत्र भाग हैं। मंत्रोंमें ऋचाओं (पद्यों), यजुषों (गद्यके वाक्यों) अथवा सामों (गेय पदों) का संकलन है। संहिताएँ पांच हैं, ऋग्वेद संहिता, तैत्तिरीय या कृष्ण यजुर्वेद संहिता, वाजसनेयी या शुक्ल यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता और अथर्ववेद संहिता। प्रत्येक संहिता की अनेक शाखाएं पाई जाती हैं। प्रत्येक शाखाके मंत्र-पाठ और क्रममें अन्तर होता है। ऋग्वेदकी पांच शाखाएं प्राप्त हैं, शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, कौषितकि या शांखायन और ऐतरेय।

ऋग्वेद संहिता अत्यन्त प्राचीन और सब संहिताओंसे श्रेष्ठ है। यह सम्पूर्णतः पद्यमें है। इसमें १०२८ सूक्त मिलते हैं। सूक्त किसी एक विषयके मंत्रोंके समूहको कहते हैं। पूरा ऋग्वेद मंडलों, अनुवाकों, सूक्तों और मंत्रोंमें विभक्त है। ऋग्वेदमें दस मंडल हैं। हरेक मंडलमें कई

---

१ वेदोंको श्रुति भी कहते हैं। श्रुति शब्द श्रु धातुसे निकला है जिसका अर्थ है 'सुना हुआ'। लोगोंका विश्वास था कि ईश्वरने जगत् और उसके प्राणी रचे हैं तो उसने अपने बच्चोंके मार्गप्रदर्शनके लिए कुछ आदेश भी दिए होंगें। वेद ईश्वरसे 'सुने हुए' वही आदेश हैं।

अनुवाक होते हैं और हर अनुवाक में कई सूक्त। प्रत्येक सूक्तका कोई न कोई द्रष्टा है जिसे उस सूक्तका 'ऋषि' कहते हैं। विभिन्न मंडलोंमें इन्हीं ऋषियोंके वंशोंके अनुसार सूक्तोंका संकलन एक विशेष योजनाके साथ किया गया है। इसका यही अर्थ है कि किसी मंडलकी रचना या ईश्वरसे प्राप्ति उसी मंडलके ऋषि और उसके कुटुम्बियोंके माध्यमसे हुई मानी जाती है। ऋग्वेदका दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां, छठा, सातवां और आठवां मंडल क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, वशिष्ठ और कण्व नामक ऋषियोंसे संबद्ध है। ऋग्वेद के अधिकांश सूक्त देवताओंकी स्तुतिमें लिखे गए हैं। कुछ सूक्तोंमें. शपथ, श्राप, जादू, टोने आदिका वर्णन है। इन्हें 'अभिचारसूक्त' कहते हैं। कुछ सूक्तोंमें विवाह, मृत्यु आदिका वर्णन है। ऋग्वेदको जाननेवाला 'ऋत्विक्' कहलाता है।

यजुर्वेदसंहिता गद्यमें है। इसमें मुख्यतः यज्ञोंके समय उपयोगमें आनेवाले मंत्रों, विधियों और क्रियाओंका वर्णन है। जिन गद्यवाक्योंमें यह विधियां वर्णित हैं उन्हें यजुष् कहते हैं। इस वेदकी अब पांच ही संहिताएँ उपलब्ध हैं, काठक, कापिष्ठल-कठ, मैत्रायणी, तैत्तिरीय और वाजसनेयी। पहली चार संहिताओंमें परस्पर बहुत कुछ समानता है। ये कृष्ण यजुर्वेद के नामसे पुकारी जाती हैं। अन्तिम वाजसनेयी शुक्ल यजुर्वेदके नामसे पुकारी जाती है। तैत्तिरीय संहिता सबसे प्रसिद्ध और मान्य है। यजुर्वेदको जाननेवाला 'अध्वर्यु' कहलाता है।

सामवेद संहिता यद्यपि ऋग्वेदके मंत्रोंसे ही निर्मित है तथापि उसमें संगीतात्मकता है। सामवेदकी राणायणीय, कौथुमस और जैमिनीय ये तीन संहिताएं ही उपलब्ध हैं। इस वेदमें भी याज्ञिक मंत्रोंकी प्रधानता है। सामवेदके जाननेवालेको 'उद्गाता' कहते हैं।

अथर्ववेद गद्य-पद्य मिश्रित है। इसमें मंत्र, तंत्र, अभिचार आदिकी भरमार है। इस वेदका जाननेवाला 'ब्रह्मा' कहलाता है।

वस्तुतः वेदसे तात्पर्य संहिता भागसे ही है। वैदिककालकी विचार-धाराकी प्रवृत्ति और जगत्को समझने तथा उसको देखनेका दृष्टिकोण ऋक् और अथर्व संहिताके मंत्रोंमें मिलता है। उस समयके मनुष्य प्राकृतिक शक्तियोंपर ही अवलम्बित थे। प्रकृतिकी जो जो शक्तियां उनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करती थीं वे उनके लिए पूज्य हो जाती थीं। सूर्य उनको प्रकाश देता था, उषा उसमें तारुण्य और सौंदर्यके भावोंको उत्पन्न करती थी, वरुण उनका धर्म-रक्षक था, पर्जन्य उनके खेतोंके लिए पानी बरसाता था, इन्द्र उनको युद्धमें सहायता देता था और सोम उनके जीवनमें मादकता भरता था। आश्चर्य क्या जो उन्होंने इन प्राकृतिक शक्तियोंको आदर तथा भयसे मानवी रूप दे डाला। प्रकृतिकी शक्तियोंके मानवी रूपको देवता कहा जाता है। देव शब्दका अर्थ है चमकना। यहांपर आदिम मनुष्यके दृश्य जगत्के कारणकी धुंधलीसी खोज मिलती है। उनके अनुसार दृश्य जगत्का कारण दैवी हुआ करता था। यहां यह भी प्रवृत्ति है कि दृश्य जगत् ही अन्तिम सत्य नहीं है वरन् उसके पीछे भी कुछ सत्य है।

वैदिक मनुष्यके देवोंकी संख्या अनिश्चित थी। कभी कभी वह तेंतीस माने जाते थे और उनके स्थानोंके अनुसार उनका विभाजन किया जाता था; १. आकाश या द्यौः के देवता, जैसे मित्र, वरुण, सूर्य, उषा, विष्णु आदि; २. अंतरिक्ष या वायुमंडलके देवता, जैसे इन्द्र, मरुत् और पर्जन्य आदि और ३. पृथिवीके देवता, जैसे अग्नि और सोम आदि। इस विभाजनसे देवताओंमें पारस्परिक संबंध और तारतम्य स्थापित करनेकी प्रवृत्तिका पता चलता है। प्रत्येक भागके प्रबंधक उसी भागके देवता होते थे। देवता तो अनेक थे किन्तु जिस जगत्के वे प्रबन्धक थे वह जगत् एक ही था। इस धारणामें एकदेववाद और एकेश्वरवादका बीज है।

देवताओंका यह बाहुल्य धीरे धीरे कम होता गया। देवताओंका उनके स्थानोंके अनुसार उनका विभागकर विश्वको खंड खंड कर देना

वैदिक मनुष्योंको नहीं रुचा। प्रकृतिके सब पदार्थ और घटनाएँ एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। इसलिए उनके अधिष्ठाता देवताओंकी शक्तियोंको मिलाकर एक महाशक्तिकी कल्पना करना वैदिक मनुष्योंमें स्वाभाविक था। कभी कभी किसी एक देवताका गुणगान करते समय वे अन्य देवताओंको भूल जाते थे और तत्कालीन देवताको ही सबसे बड़ा समझने लगते थे। इसे उनका 'अवसरिक एकदेववाद' कहा जा सकता है। यही दो प्रवृत्तियां उन्हें एकदेववादकी ओर ले गईं। एकदेववादकी प्रवृत्ति ऋग्वेदके '**महत् देवानाम् असुरत्वम् एकम्**' वाक्यसे भी परिलक्षित होती है। वैदिक मनुष्योंको एक परम कारणमें विश्वास तो था किन्तु वे उसकी रूपरेखा ठीक ठीक निर्धारित नहीं कर सके थे। उदाहरणार्थ अपने मौलिकरूपमें विश्वकर्मा इन्द्र और सूर्यका विशेषण था। बादमें वह ईश्वरके रूपमें प्रतिष्ठित हो गया। ऋग्वेदके अन्तिम भागोंमें प्रजापतिका महत्व बढ़ने लगता है। आगे चलकर प्रजापति ब्रह्मा बन जाता है।

एकदेववादसे भी ऊँची एकताकी एक और धारणा है जो विश्वके अस्तित्वका केवल एक ही मूल मानती है। इसका पूरा विवरण उपनिषदों में है। इसके दो दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टिकोणके अनुसार ईश्वर और प्रकृतिमें भेद नहीं माना जाता। ईश्वरको प्रकृतिसे पृथक् न मानकर उसीमें निहित माना जाता है। जगत्की सृष्टि ईश्वरद्वारा नहीं होती। जगत् ही ईश्वर है। दूसरे दृष्टिकोणके अनुसार ईश्वर जगत्की सृष्टि करता है। जगत् ईश्वरका परिणाम है और ईश्वर जगत्का कारण। एकेश्वरवादकी यह धारणा ऋग्वेदके "**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः**"[१] मंत्रसे प्रकट होती है। ऋग्वेदके 'नासदीय सूक्त' में 'सृष्टिगान' भी इस धारणाकी पुष्टि करता है।

---

१ देखिए, ऋग्वेद १।१४४-४६। एक ही का वर्णन विद्वान् बहुत प्रकारसे करते हैं। कोई उसे अग्नि कहता है, कोई यम और कोई वायु।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परा यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राञ्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥

इस गीतसे स्पष्ट है कि यहां कारण सिद्धान्तको माना गया है। उस समय 'तद् एकम्'[1] था जो बिना हवाके अपनी शक्तिसे साँस ले रहा था। यहाँ सृष्टिके मूलकी ही खोज नहीं की गई है किन्तु उस मूलकी प्रकृतिको जाननेका भी प्रयास किया गया है। 'तद् एकम्' परम सिद्धान्तकी एकता और भावरूपताको बताता है। यज्ञके प्रभावके कारण सृष्टिकी व्याख्याका एक और दृष्टिकोण भी है जो जगत्की उत्पत्ति वलिसे मानता है। यह 'पुरुष सूक्त'[2] में वर्णित है जहाँ पुरुषकी वलि देनेपर जगत्की सामग्री मिलती है। पुरुषका वर्णन अत्यन्त कवित्वपूर्ण है। "उसके मस्तिष्क से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, आंखसे सूर्य, मुंहसे इन्द्र और अग्नि, साँससे वायु" इत्यादि। जो हुआ है और जो होगा वह सब पुरुष ही है[3]। यहां सम्पूर्णको उसके खण्डोंमें विभाजित किया गया है। उपनिषद् कभी कभी इसके प्रत-कूल अनुभवमें दिए गए अलग अलग खण्डोंसे सम्पूर्णका निर्माण करते हैं।

पुरुषके दृष्टिकोणमें हमें सामाजिक संस्थाओंका अंकुर मिलता है। "ब्राह्मण उस (पुरुष) का मुख था, क्षत्रिय उसकी बाँहें, वैश्य उसकी जांघें

---

१ दे०, वहीं, मंडल १०, सूक्त १२९, उस समय न तो सत् था और न असत्, न रज थी और न ही गगनका शून्य। पानीके गहरे गर्भमें न जाने कौन वस्तु किस वस्तुको कहां ढँक रही थी। न कहीं मृत्यु थी और न ही अमरता, न कहीं दिन था और न रात। बस 'एक वह' सांस ले रहा था। पवन भी नहीं थी और न कुछ और था।

२ दे०, वही, मं० १० सूक्त ९०।

३ पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।

और शूद्र उसके चरण" में हमें वर्णाश्रमकी भावना मिलती है। ऋग्वेद-में विकास और रचनाका दृष्टिकोण मिलता है, किन्तु रचनाकी चर्चामें एक ही सृष्टिका वर्णन है और प्रलयके बाद पुनः सृष्टि होनेके विचार का, जो बादकी विचारधारामें बहुत प्रधानता रखता हैं, कोई जिक्र नहीं है।

वैदिक मनुष्यने देखा कि जगत्‌की घटनाएँ कुछ नियमोंके आधीन हैं और वे नियम एक दूसरेसे संबद्ध हैं। नियमोंकी व्यापकताको ऋग्वेदके ऋषियोंने 'ऋत्' नाम दिया है। सारा जगत् ऋत्‌से ही उत्पन्न होता है। वरुण ऋत्‌का रक्षक है (गोपा ऋतस्य)। अपने मौलिकरूपमें ऋत् शब्दका अर्थ था 'नियमोंकी समानता।' मंत्रोंमें ऋत्‌का अर्थ 'नैतिक' समानता भी है। वैदिक देवता जगत्‌के नियमोंके समान व्यवहारके संरक्षक होनेके अतिरिक्त जगत्‌की नैतिक समानताके भी व्यवस्थापक हैं। यह वरुणके दृष्टिकोणसे स्पष्ट है। वरुणको धृतव्रत भी कहते हैं। वह प्राकृतिक और नैतिक नियमोंका संरक्षक है। वरुण शब्दका अर्थ है 'आच्छादित करनेवाला।' वह भौतिक और नैतिक जगत्‌का सिद्धान्त नियन्ता है। सूर्यको उसकी आँख बताया गया है जिससे उसकी सर्वज्ञ प्रवृत्ति पता चलती है।

जबतक आर्य शांतिपूर्वक रहे उनमें वरुणका मान रहा। युद्धकी आवश्यकताओंने उनमें इन्द्रका मान बढ़ा दिया। कहा जाता है कि इस समय आर्योंका नैतिक पतन हो गया था। किन्तु यह एक सामयिक घटना थी और इन्द्र उनका सबसे बड़ा देवता नहीं बन सका।

ऋग्वेदके बाद ही यजुर्वेद और सामवेदमें यज्ञोंकी महिमा बढ़ने लगती है। याज्ञिक क्रियाओं द्वारा देवताओंको प्रसन्नकर उनसे मनचाही वस्तु पानेका लोभ बढ़ने लगता है। यहां भक्ति कम है और लालच अधिक। अथर्ववेद मौलिक ग्रंथ तो है किन्तु उसमें जादू टोनेकी बातोंकी बहुलता है। इससे आर्योंपर अनार्योंका प्रभाव स्पष्ट है। शायद इस समय आर्योंने अनार्योंको उनके विश्वास और धार्मिक भावनाओं सहित अपने

में मिलानेकी चेष्टा की हो। इस कालमें भूत-प्रेतों, वृक्षों, पर्वतों आदिका पूजन शुरू होने लगा था। कुछ देवताओंकी उत्पत्ति भी अनार्यों और आर्योंके धर्मोंके मेलसे हुई जान पड़ती है। रुद्र इसी कालका देवता है जो बादको शिव बन जाता है।

इसके बाद वेदोंका ब्राह्मण भाग आता है। ब्राह्मण शब्द 'ब्रह्म' धातुसे निकला है जिसका अर्थ है 'प्रार्थना' या 'भक्ति'। इसलिए ब्राह्मण शब्द पुरोहितोंके यज्ञ संबंधी आप्त कथनोंका द्योतक है। ब्राह्मण भाग वेदोंका व्याख्या भाग है। इस युगके ऋषि मंत्रद्रष्टा न होकर संहिता भागके व्याख्याता ही हैं। मंत्ररचनाका युग समाप्त हो चुका था। अब धार्मिक विधानोंसे उनका संबंध स्थापित करनेकी चेष्टा की जाने लगी थी। ब्राह्मणोंकी रचनाका उद्देश्य यज्ञविधि आदि कर्मकांडपर प्रकाश डालना है। ब्राह्मण गद्यमें हैं। वे यज्ञोंकी स्तुतिसे भरे पड़े हैं। यज्ञ करनेवाले पुरोहितोंको मोक्षकी चिन्ता नहीं रह गई थी। यज्ञ द्वारा वे इसी लोकमें सुख-समृद्धि पाना चाहते थे। यज्ञ करनेसे फल मिलता है इसमें उसका अटल विश्वास था। शायद इसी विश्वासका विकसित रूप कर्म सिद्धान्त है जो बादकी विचारधारामें बहुत प्रधानता रखता है।

वैदिक कर्मकांडको समझने तथा उस युगके जीवनकी झलक देखनेके लिए ब्राह्मणोंका बड़ा महत्त्व है। ऋग्वेदके चार ब्राह्मण हैं, कौषितकि, ऐतरेय, पैंगिरहस्य और शाट्यायन। कृष्ण यजुर्वेदके भी चार ब्राह्मण हैं, तत्तिरीय, वल्लभी, सत्यायनी और मैत्रायणी। शुक्ल यजुर्वेदका केवल एक ब्राह्मण है, शतपथ। सामवेदके सामविधान, मंत्र, आर्षेय, वंश, दैवताध्याय, तलवकार, तांडच और संहितोपनिषद् ये आठ ब्राह्मण हैं। अथर्ववेदका ब्राह्मण है गोपथ। ऐतरेय, शतपथ, तांडच और गोपथ ही महत्त्वके हैं।

ब्राह्मणोंके अन्तिम भागको आरण्यक कहते हैं और आरण्यकोंके

अन्तिम भागको उपनिषद् । अरण्य शब्दका अर्थ है वन । जो लोग वनोंमें रहते थे आरण्यकोंमें उनके लिए नियम आदि हैं ।

यज्ञको देवताओंके प्रति ऋण माना गया है । इस धारणामें कर्तव्य-भावना मिलती है । ऋण तीन बताए गए हैं, कर्तव्यका, संस्कृतिके लिए ऋषियोंका और जातिका । कर्तव्यका ऋण जो देवताओंके प्रति होता है, यज्ञ करके चुकाना चाहिए; अध्ययनसे ऋषियोंके ऋणसे मुक्त होना चाहिए और संतानोत्पत्ति करके जातिका ऋण चुकाना चाहिए । यज्ञोंकी प्रधानता बढ़नेसे अग्निका महत्त्व बढ़ने लगा तथा अन्य वैदिक देवताओंकी महत्ताका ह्रास होने लगा । प्रजापति इस कालका सबसे बड़ा देवता है । प्रजापति प्रकृतिकी सृजनशक्तिका प्रतीक और जगन्नियंता है । इस कालमें यज्ञोंकी जटिलता बढ़ जाने और उसके साहित्यकी अधिकताके कारण उसकी याद रख सकना असम्भव हो गया था । यज्ञ-विधियोंको याद रख सकनेके लिए उन्हें सूक्तरूप देनेकी आवश्यकता पड़ी और इस प्रकार सूक्तकालका प्रारम्भ हुआ ।

नरकका जिक्र ऋग्वेदमें तो नहीं है किन्तु अथर्ववेद और ब्राह्मणोंमें है । वैदिक युगमें नैतिकताकी कोई निश्चित धारणा नहीं मिलती । 'अव्रत' 'देवनिद्' आदि विशेषणोंसे पता चलता है कि उस समय भी देवताओंको न मानने तथा यज्ञोंकी निन्दा आदि करनेवाले लोग थे । नरककी धारणा शायद उन्हीं लोगोंके लिए रही होगी । कुकर्म और पापका दण्ड सदाके लिए नरकमें जाना है । पापीका सबसे कठोर दण्ड 'पुनर्मृत्यु' (मर मरके जीना) है । नरककी धारणामें आत्माकी अमरताका संकेत मिलता है । मृत्युका अर्थ विनाश न होकर अन्यत्र कहीं चले जाना है जहां सुख-दुख 'जैसी करनी वैसी भरनी' के अनुसार मिलते हैं ।

उपनिषद्

उपनिषद् शब्दका अर्थ है भक्ति भावना (नि) से पास (उप) वैठना (षद्)। सभ्यताके शैशवकालमें लिखित ग्रंथ न होनेसे ज्ञानपिपासु गुरुजनोंके पास वैठकर शिक्षा प्राप्त करते थे। उपनिषदोंमें वही शिक्षाएँ संग्रहीत हैं जिन्हें उपदेशोंसे थककर लिपिवद्ध कर दिया गया था। उपनिषद् यद्यपि ब्राह्मणोंके अंतिम भाग हैं तथापि उनकी प्रवृत्ति ब्राह्मणोंके कर्मकाण्डके विरुद्ध है। एक ऐसा समय आया था जव लोग वाह्याडम्वरों से ऊव अपनी दृष्टिको अंतर्मुखी करके जीवनसंवंधी चिंतन और ज्ञानकी खोजकी और आकर्षित हुए थे। यह मुण्डक-उपनिषद्के कथनसे स्पष्ट है: 'इन यज्ञरूपी नौकाओंमें वताया गया अट्ठारह प्रकारका ज्ञान वर्जित कर्म वहुत परिक्षीण है। इसे श्रेय कहकर इसका अभिनन्दन करनेवाले मूर्ख वारवार वृद्धावस्था और मृत्युको प्राप्त होते हैं।'[१]

वैसे तो लगभग डेढ़ सौ उपनिषदोंके नाम मिलते हैं किन्तु आगेकी विचारधाराकी पृष्ठभूमि होनेके नाते उनमेंसे वारह ही प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेदके ऐतरेय और कौषितकि; कृष्ण यजुर्वेदके कठ, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर; शुक्ल यजुर्वेदके ईश और वृहदारण्यक; सामवेदके केन और छांदोग्य; और अथर्ववेदके प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य।

उपनिषदोंकी इस वड़ी संख्याको देखते हुए यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि उनमें एक ही शिक्षाका प्रतिपादन किया गया है या अलग अलग शिक्षाओंका? उपनिषदोंमें अनेक शिक्षाएँ मिलती हैं किन्तु भारतीय आलोचकों और विचारकोंका हठ रहा है कि सब

**१ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो ये अभिनन्दन्ति मूढा जरा मृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति। (१।२।७)**

उपनिषद् एक ही शिक्षाका प्रतिपादन करते हैं। इसके दो मुख्य कारण हैं। भारतीय विचारक वेदोंकी भांति उपनिषदोंको भी 'श्रुति' समझते हैं और उनके मतमें ईश्वरीयवाणीमें परस्पर विरोधी शिक्षाएँ नहीं हो सकतीं। दूसरा कारण है ऐतिहासिक और आलोचनात्मक प्रवृत्ति की कमी जिससे वे यह नहीं देख सकें कि उपनिषदोंमें प्रत्येक ऋषिने अपने दृष्टिकोणके अनुसार सत्यकी व्याख्या की है। यह मानते हुए भी कि सब उपनिषद् एक ही शिक्षा देते हैं भारतीय आलोचक 'उस शिक्षाका स्वरूप क्या है ?' इसमें मतभेद रखते हैं। उपनिषदों की बहुत ही स्पष्ट और पूर्ण विकसित शिक्षा एकतावाद तथा ज्ञातावाद की है। ज्ञातावादके अनुसार जगत्की सम्पूर्ण वस्तुएँ चाहे ज्ञाताके मस्तिष्कमें न हों किन्तु उनके ज्ञानके लिए ज्ञाताका उनसे पहले होना अत्यन्त आवश्यक हैं।

जगत्की सारी वस्तुएँ नष्ट होती रहती हैं। जो आज है वह कल नहीं रहती, जो कल थी वह आज नहीं रहती। इस सबके पीछे क्या कोई ऐसी भी वस्तु है जिसका नाश नहीं होता, जो सदा स्थिर रहती है। यदि ऐसी कोई वस्तु है तो हम उसे कहां ढूंढें ? कैसे ढूंढें ? वाह्यजगत्की वस्तुओंतक हमारी पहुंच सीधी न होकर इन्द्रियोंके माध्यमसे होती है। प्रत्यक्ष अनुभव तो केवल अपनी ही सत्ताका हो सकता है। किंतु हमारा शरीर भी तो विनाश और मृत्युको प्राप्त हो जाता है। तो क्या मरनेपर हमारा सब कुछ समाप्त हो जाता है ? हमारे भौतिक शरीरमें क्या ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका विनाश न होता हो ? हमारा भौतिक शरीर तो नष्ट हो ही जाता है इसलिए हमारे अन्दर यदि कोई ऐसी वस्तु है जिसका विनाश नहीं होता तो वह अ-भौतिक ही हो सकती है। किंतु वह है क्या ? उन्होंने देखा कि 'श्वास' लेनेसे ही हम जीवित रहते हैं। हो न हो यह 'श्वास' ही शायद वह वस्तु हो। यह अवश्य कोई ऐसी शक्ति है जिसका विनाश संभव ही नहीं। इसी 'श्वास' को उन्होंने 'आत्मा'

कहकर पुकारा। आत्मा मनुष्यके जीवित रहनेका आवश्यक अंग है, इसलिए कालान्तरमें आत्मा शब्दका प्रयोग किसी वस्तुके आवश्यक अंगके अर्थमें भी होने लगा। इन्द्रियां बाह्यदर्शी हैं अतएव मनुष्य अपने भीतरकी चीजें नहीं देख सकता। दृष्टिको अंतर्मुखी करके ही आत्माको देखा जा सकता है।[1] आत्माको वाद-विवाद, बुद्धि या सुननेसे नहीं जाना जा सकता। आत्मा जिसका वरण कर लेती है वही इसे जान सकता है और वही इसके स्वरूपको देख सकता है।[2] मनुष्यकी मानसिक दशाएँ बदलती रहती हैं। आत्मा इनमेंसे नहीं है। आत्मामें कोई विकार नहीं होता। वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंसे परे है। वह न तो उत्पन्न होती है और न ही मरती है। वह चैतन्यस्वरूप होती है और कहींसे नहीं आती। वह अज है, नित्य है, शाश्वत है, प्राचीन है; शरीरके मारे जानेपर भी वह नहीं मरती।[3]

वही शक्ति, वही आत्मा बाह्य जगत्में भी है। बाह्य जगत्की सत्यताको 'ब्रह्म' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है 'प्रार्थना'। 'ब्रह्म' बृ धातुसे निकला है जिसका अर्थ है 'फूट निकलना'। प्रार्थनाके अर्थमें ब्रह्म स्वर द्वारा व्यक्त होता है। जगत्का आदि कारण यहां 'फूट निकलने' में माना गया है। किसी शक्ति (ब्रह्म) से जगत्की

---

१ पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।२।४।१
(कठोपनिषद्)

२ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।१।२।२३
(कठोपनिषद्)

३ न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।१।२।१८
(कठोपनिषद्)

वस्तुएं फूट निकलती हैं। उस शक्तिको भूतान्तरात्मा (भूतोंके अन्तरमें स्थित आत्मा) कहा गया है। जिस प्रकार अग्नि भुवनमें प्रवेश करके अनेकरूपोंमें अभिव्यक्त हो रही है उसी प्रकार सब भूतोंके प्रत्येकरूपमें एक ही भूतान्तरात्मा प्रकट हो रही है।[१] वाह्य जगतका उद्गम है ब्रह्म और मनुष्यके अन्तर्जगत्का उद्गम है आत्मा। और यह आत्मा ही ब्रह्म है (**अयमात्मा ब्रह्म**)। इसी सत्यको **'तत् त्वमसि'**[२] (तू वही है) और **अहं ब्रह्मास्मि** (मैं ही ब्रह्म हूँ) आदि महावाक्यों द्वारा कहा गया है।

इस प्रकार उस कालके विचारकोंने अन्दर और वाहरके सत्यको समान माना था। जिसमें आकाश, पृथिवी और अंतरिक्ष पिरोए हुए हैं, जिसमें प्राणोंसहित मन पिरोया हुआ है, वही आत्मा है। सब बातों को छोड़कर उसीको जानना चाहिए। वह अमृतका सेतु है।[३] अपनी सत्तामें संदेह करना असम्भव है, और अपनी सत्ताके पीछे जो सत्य है वही वाह्य जगत्में होनेपर वाह्य जगत्की सत्तामें भी सन्देह करना असम्भव है। आत्मा ससीम है इसलिए वह सम्पूर्ण सत्यकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकती। ब्रह्मका दृष्टिकोण वाह्यगत होनेसे एक कल्पना मात्रसा लगता है। इसलिए जबतक आत्मा और ब्रह्मका सम्मिलन न हो तबतक सत्यकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इसलिए आत्मा और ब्रह्ममें भेद नहीं हो सकता। सत्यकी पूरी अभिव्यक्तिके लिए आत्माको ब्रह्मकी अपेक्षा है और ब्रह्मको आत्माकी। यह उपनिषदोंका 'अनपेक्षित' सत्य है।

---

१ **अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।२।५।९**
(कठोपनिषद्)

२ **दे०, छान्दोग्य, ६।१२**

३ **यस्मिन्द्यौः पृथिवी चांतरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।२।२।५**
(मुण्डक)

यही एकताका सच्चा स्वरूप है। इसीको 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'[1] वाक्यसे सम्वोधित किया गया है। 'ज्ञान' शब्द सत्यके अ-भौतिकरूपकी ओर संकेत करता है और 'अनन्तम्' शब्दसे उसकी असीमता प्रकट होती है। एक दृष्टिकोणसे न तो यह ब्रह्म है और न ही आत्मा; किन्तु दूसरे दृष्टि-कोणसे यह ब्रह्म और आत्मा दोनों ही है। उपनिषदोंमें कहीं कहीं देववादके चिन्ह मिल जाते हैं किन्तु ऐसा वहीं है जहां अनपेक्षितको मानवीरूप देकर ईश्वर कहा गया है।

इस एकताका वर्णन दो तरहसे किया गया है। कभी तो अनपेक्षित को सप्रपंच (सगुण) बतलाया जाता है और कभी निष्प्रपंच (निर्गुण)। प्रपंच शब्दका अर्थ है विश्वका विस्तार। सप्रपंचका सुन्दर वर्णन छांदोग्य उपनिषद्के तीसरे प्रपाठकके चौदहवें खण्डमें मिलता है। ब्रह्मको 'तज्जलान्' (अर्थात् जगत् 'तत्ज' उसीसे उत्पन्न हुआ है; 'ल' उसीमें लय होता है और 'अन्' उसीसे जीवित है) कहनेके बाद जगत्की सारी क्रियाओंकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लीनता उसीमें बताई गई है। 'वह पृथिवीमें स्थित है और पृथिवीका अंतर है, पृथिवी जिसे नहीं जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है। पृथ्वीके अंदर बैठकर जो उसका नियंत्रण करता है, वह अन्तर्यामी अमृतमय आत्मा है।'[2] अंतरात्मा सब भूतोंमें परि-वेष्ठित होकर स्थित है (भूतैस्तिष्ठते ह्यंतरात्मा)[3]।

निष्प्रपंचका सुन्दर वर्णन वृहदारण्यक उपनिषद्[4] में है। गार्गी

---

१ दे०, तैत्तिरीय।

२ यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अंतरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमंतरो यमयति एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।३।७।३ (वृहदारण्यक)

३ दे०, मुण्डक, २।१।९

४ दे०, ३।८।८।

याज्ञवल्क्यसे पूछती है कि जगत्का आधार क्या है? उत्तर मिलता है कि आकाश। यह पूछनेपर कि आकाशकी विशेषता क्या है, उत्तर मिलता है कि परम सत्य मनुष्यके अनुभवसे परे है। इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है:"वह अविनाशी है, ऐ गार्गी, विद्वान् उसकी श्रद्धा करते हैं। वह स्थूल नहीं है, सूक्ष्म नहीं है, छोटा नहीं है, बड़ा नहीं है, लाल नहीं है, चिकना नहीं है। वह छायासे भिन्न है, अन्धकारसे पृथक् है, वायु और आकाशसे अलग है, वह किसीसे सम्बन्ध नहीं रखता, वह रसहीन और गंधहीन है। उसको आँखोंसे नहीं देखा जा सकता, कानोंसे नहीं सुना जा सकता, वह वाणी और मनसे नहीं जाना जा सकता, उसका तेजसे कोई सम्बन्ध नहीं, प्राण और मुखसे भी कोई सम्बन्ध नहीं, उसका कोई परिमाण नहीं; वह न अंदर है और न बाहर; वह कुछ नहीं खाता, उसको कोई नहीं खा सकता।" ब्रह्म शब्द, स्पर्श और रूपसे रहित है, अव्यय है, रसहीन और गन्धहीन है, अनादि है, अनन्त है, बुद्धिसे परे है और ध्रुव है।[१] जो कुछ जाना जाता है ब्रह्म उससे भिन्न है, जो नहीं जाना जाता उससे भी भिन्न है।[२] जिसे वाणी नहीं कह सकती किन्तु जिसकी शक्तिसे वाणी बोलती है वही ब्रह्म है। उपासना करनेवाली वस्तुएँ ब्रह्म नहीं हैं।[३]

एक ही सत्यकी अभिव्यक्ति करनेके लिए ये दो विरोधी दृष्टिकोण कैसे! शंकराचार्यके मतमें यह दोनों दृष्टिकोण एक ही हैं। 'अनपेक्षित' इन्द्रियोंको सप्रपंच ज्ञात होता है किन्तु बौद्धिक दृष्टिकोणसे वह निष्प्रपंच है। सप्रपंच दृष्टिकोणके अनुसार ब्रह्म जगत्में निहित रहता है किन्तु

---

१ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्। १।३।१५ (कठोपनिषद्)

२ अन्यदेव तद् विदितादयो अविदितादधि। १।३ (केनोपनिषद्)

३ यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।१।४ (केनोपनिषद्)

निष्प्रपंचके अनुसार ब्रह्म जगत्से परे रहता है। उपनिषदोंके अनुसार ब्रह्म जगत्में निहित भी है और उससे परे भी है। जगत्की वस्तुएँ अनपे-क्षितसे उत्पन्न होकर उसीमें लय हो जाती हैं। इसे ब्रह्म परिणामवाद कहते हैं। इस दृष्टिकोणके अनुसार ब्रह्म ही जगत्के रूपमें विकसित होता है। निष्प्रपंच दृष्टिकोणके अनुसार ब्रह्म केवल जगत्का आधार है। ब्रह्म जगतसे परे रहता है। हमारे अनुभवकी वस्तुएँ ब्रह्म नहीं हैं। इसे ब्रह्म विवर्तवाद कहते हैं। विवर्त शब्दका अर्थ है भ्रम। इस दृष्टिकोणके अनुसार ब्रह्म जगत्के रूपमें विकसित नहीं होता, वह हमें जगत्-सा प्रतीत होता है। जगत्में ब्रह्मका भ्रम हो जाता है।

यदि ब्रह्म निष्प्रपंच है तो उससे जगत्की उत्पत्ति कैसे होती है? यदि एकता ही सत्य है तो जगत्में दिखाई देनेवाली अनेकताका क्या कारण है? एकताको अनेकता और निष्प्रपंच को सप्रपंच दिखानेवाले सिद्धान्त-को भारतीय विचारधारामें 'माया' कहा गया है। उपनिषदोंमें माया शब्दका प्रयोग हुआ है।[1] माया शब्द ऋग्वेदमें भी पाया जाता है जहाँ इन्द्रको अपनी मायाद्वारा अनेक रूपवाला हो जाना कहा गया है।[2] प्रारम्भिक उपनिषदोंमें मायाके स्थानपर 'अविद्या' शब्दका प्रयोग मिलता है।

जगत् नाम और रूपसे मिलकर बना है। किसी वस्तुका आकार या विशेषता रूप कहलाती है और नाम उसको सम्बोधन करनेके शब्दको कहते हैं। सब वस्तुएँ अपनी अपनी विशेषताओं, जो उन्हें अन्य वस्तुओंसे अलग करती हैं, द्वारा जानी जाती हैं। सारी वस्तुएँ ब्रह्मसे उत्पन्न होती हैं और उनकी पृथक्ता उनके नामरूपोंकी विभिन्नताओंके कारण होती है।[3] वस्तुएँ दो प्रकारकी होती हैं, जड़ और चेतन। चेतन वस्तुएँ जीवके पुनर्जन्मका निवासस्थान होती हैं। जड़-जगत् ब्रह्मद्वारा

१ दे०, श्वेताश्वर, ४।९-१०

२ दे० ऋग्वेद, ६।४७।१८

३ दे०, छांदोग्य

निर्मित एक मंचके समान है जिसपर आ-आकर जीव अपना अभिनय करते हैं। जड़-जगत् पाँच तत्त्वोंसे मिलकर बना है, पृथिवी, अप् (पानी), तेजस् (अग्नि), वायु और आकाश। इन तत्त्वोंको भूत कहते हैं और इन्हींके कारण जड़-जगत्को भौतिक जगत् भी कहते हैं। प्रारम्भमें इन पाँचों भूतोंमें से केवल अप्को ही माना जाता था। बादमें[1] पृथिवी, अप् और तेजस् ही भूत माने जाते थे। अन्तमें वायु और आकाशको भी जोड़ कर पांच भूत माने गए। भूतोंका यह श्रेणी विभाग पाँचों इन्द्रियोंकी विशेषताओंका सूचक है। पृथिवीकी विशेषता है गन्ध, अप्की स्वाद, तेजस्की रंग, वायुकी तापक्रम और आकाशकी शब्द। इनको सूक्ष्मभूत कहा जाता है और इन्हींसे पृथिवी आदि स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति होती है। चेतन वस्तुएँ तीन भागोंमें विभाजित की गई हैं: अण्डेसे उत्पन्न (अण्डज), कीटाणुओंसे उत्पन्न (जीवज) और भूमिसे उत्पन्न (उद्भिज्ज)। इन तीनोंके अतिरिक्त कुछ चेतन वस्तुएँ पसीनेसे भी उत्पन्न (स्वेदज) होती हैं। नष्ट होनेपर चेतन वस्तुओंका भौतिक पदार्थ स्थूल भूतोंमें परिणत हो जाता हैं।

मानसिक दशाओंका विश्लेषण तथा अध्ययन भी उपनिषदोंमें मिलता है। ज्ञेय वस्तुओंके ज्ञानके लिए ज्ञाताका ज्ञेय वस्तुओंसे पहले होना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। ज्ञाताको जीव शब्दसे अभिहित किया गया है। वृहदारण्यकमें कहा गया है कि ज्ञेय वस्तुका ज्ञान जीव द्वारा होता है।

जीव 'जी' शब्दसे निकला है जिसका अर्थ है 'साँस लेनेकी क्रिया करते रहना।' जीवनकी दो मुख्य क्रियायें हैं। एक तो वह हैं जिन्हें हम इच्छानुसार कर सकते हैं और दूसरी वे जिन्हें इच्छानुसार करने या न करनेमें हम स्वतन्त्र नहीं हैं। पहली चेतनक्रियाएँ कहलाती हैं और दूसरी अचेतन। जीव शब्द जीवनकी अचेतन क्रियाओंका सूचक है जैसे साँस लेना आदि। जीव कर्ता भी होता है और भोक्ता भी। कर्त्ता और भोक्ता जीवनकी

---

१ दे०, वही

चेतनक्रियाओंके द्योतक हैं। अचेतन क्रियाएँ 'प्राण' द्वारा और चेतन क्रियाएँ 'मनस्' द्वारा होती हैं। मनस् दस इन्द्रियोंकी, पाँच ज्ञानकी और पाँच कर्मकी, सहायता लेता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण और रसना। ये क्रमशः देखने, सुनने, छूने, गंध प्राप्त करने और स्वाद लेनेके अंग हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। ये क्रमशः बोलने, थामने, चलने, प्रस्रवन और प्रजननके अंग हैं। जीवके पुनर्जन्ममें उसका केवल भौतिक शरीर ही बदलता है। शरीर, प्राण और मनस् जीवका ऐन्द्रिक घर मात्र हैं।

सप्रपंच और निष्प्रपंच दृष्टिकोणोंके अनुसार जीव और ब्रह्मका सम्बन्ध अलग अलग है। सप्रपंच दृष्टिकोणके अनुसार स्वयं ब्रह्म ही जीव प्रतीत होता है, इसलिए ब्रह्म और जीवमें कोई भेद नहीं है। जीवका जीवपन ब्रह्मसे अपना समन्वय भूल जानेमें है। जीव कभी कभी अपनी वैयक्तिकताको भी भूल जाता है। इससे पता चलता है कि जीवका तत्त्व ससीम नहीं है जैसा कि प्रायः समझ लिया जाता है[1]। जीवका अपनी वैयक्तिकता भूल जानेका अनुभव जीवनके मनोमय और विज्ञानमय स्तरोंके अनुभवोंसे ऊँचा और उत्तम है[2]। इस अनुभवको आनन्दमय कहा गया है। इसकी समानता मोक्षसे नहीं की जा सकती क्योंकि यह एक क्षणिक अवस्था है और मोक्ष स्थायी। कलाकारको जिस सौंदर्य और सामञ्जस्यका अनुभव होता है वह इसीके अन्तर्गत है। यह साधारण अनुभव और मोक्षके बीचकी वस्तु है।

वस्तुओंके नाम और रूपके अनुभवसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। इन्द्रियोंद्वारा ससीमका ही ज्ञान हो सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि असीम अर्थात् ब्रह्मको जाना ही नहीं जा सकता। उपनिषदों

१ दे०, तैत्तिरीय

२ मनोमय और विज्ञानमय स्तर मनस् की लगभग वही अवस्था है जिसे 'न्याय वैशेषिक, में क्रमशः सविकल्पक और निर्विकल्पक कहा गया है।

का उद्देश्य ही ब्रह्मको जानना है। मुण्डकमें समस्त ज्ञान परा और अपरा विद्यामें विभाजित किया गया है। ब्रह्म परा विद्यासे और जगत् अपरा विद्यासे जाना जाता है। निष्प्रपंच दृष्टिकोणके अनुसार ब्रह्म ज्ञानकी सीमाओंसे परे है इसलिए उसे जाना नहीं जा सकता। निष्प्रपंच दृष्टिकोणके अनुसार जगत्का ज्ञान विद्या नहीं है। परम् दृष्टिकोणसे जगत्का ज्ञान केवल अविद्या ही है। फिर विद्या क्या है? यह सच है कि हम ब्रह्मको नहीं जान सकते किन्तु हम ब्रह्म हो अवश्य सकते हैं।[१] विद्या इसीका साधन है।

उपनिषद् जीवका अध्ययन जाग्रतावस्थाके अतिरिक्त निद्रावस्थामें भी करते हैं। निद्रावस्थाको स्वप्न, स्वप्नरहित निद्रा और तुरीय अवस्थामें विभाजित किया गया है।[२] स्वप्नावस्था जाग्रत और प्रगाढ़ नींदके बीचकी अवस्था है। इसमें इन्द्रियोंका मनस्से समन्वय हो जाता है। जाग्रतावस्थामें मनस् वाह्य जगत्की वस्तुओंके आधारपर कल्पना भवनोंका निर्माण किया करता है किन्तु स्वप्नावस्थामें मनस् वाह्य जगत्की वस्तुओंका आधार न लेकर कल्पनाभवनोंका निर्माण करता है, यद्यपि इसके लिए सामग्री वह जाग्रतावस्थासे ही लेता है। स्वप्नावस्थाका अनुभव कुछ समयके लिए आँखों देखे अनुभवके समान ही वास्तविक जान पड़ता है। इसीलिए स्वप्नोंको 'इन्द्रियोंसे असंबंधित अनुभूति' कहा गया है।

स्वप्नरहित निद्राकी अवस्थामें इन्द्रियाँ और मनस् शान्त रहते हैं, जिससे चेतनताका बोध नहीं रहता। कहा जाता है कि इस अवस्थामें जीव अनपेक्षितके क्षणिक सम्पर्कमें आ जाता है। यह मोक्षकी अवस्था नहीं है। इस अवस्थामें यद्यपि व्यक्ति तो रहता है किन्तु उसे अपनी वैयक्तिकताकी चेतना नहीं रहती। इस अवस्थामें चिन्ताएँ आदि नहीं सतातीं, इसलिए इसे शुद्ध आनन्दमय अवस्था कहा गया है।

---

१ दे०, मुण्डक

२ दे०, मांडूक्य

तुरीयावस्था इन्द्रियोंसे नहीं जानी जा सकती। यह अवस्था विचार-धाराको बलपूर्वक रोककर प्राप्त की जाती है। यह स्वप्नरहित नींदकी अवस्थासे मिलती-जुलती है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ जीव अपने आपको पूर्णतः आवरण मुक्त कर देता है। यहां ज्ञातृ और ज्ञेय दोनों भाव लुप्त हो जाते हैं। यह रहस्यमयी अवस्था है। आध्यात्मिक शिक्षाका मुख्य उद्देश्य इसी अवस्थाको प्राप्त करना है।

यदि ब्रह्म ही सत्य है तो उसे प्राप्त करनेके लिए हमें क्या करना चाहिए? हमारे सामने एक ओर तो जीवनयापन है और दूसरी ओर सत्य। जीवन भी प्रिय है और सत्य भी। दोनोंमें से हमें किसीकी भी उपेक्षा करते नहीं बन पड़ता। जीवन सामूहिक अथवा सामाजिक होता है। समाजमें रहकर जीवनको बितानेके लिए हमें कुछ ऐसे भी कार्य करने पड़ते हैं जिन्हें हम करना नहीं चाहते, जिन्हें हम ठीक नहीं समझते। फिर भी हम सत्यको पा लेना चाहते हैं। ऐसी कौनसी राह है, जिसपर चलकर जीवन भी बिताया जा सके और सत्यको भी पाया जा सके। इस समस्याको सुलझानेके लिए व्यवहार-विज्ञान है।

ब्राह्मण युगका उद्देश्य मृत्युके पश्चात् किसी श्रेष्ठरूपमें वैयक्तिक जीवनका अस्तित्व बनाए रखना था। कर्मकांड और याज्ञिक विधान आदि ही इसका साधन समझे गए थे। यह सब जीवन संग्रामके दृष्टिकोण-पर आधारित था। उपनिषदोंका दृष्टिकोण जीवन संबंधी चिंतन है। उपनिषदोंके अनुसार जिस सत्य तक पहुंचना है वह पहुँचनेवालेसे भिन्न नहीं है। यही ब्रह्म है। ब्रह्म जगत्की एकताका द्योतक है। जगत्की अनेकताका कारण है, पाप। पाप वह प्राकृतिक गलती है जिसके कारण ब्रह्मकी एकता होते हुए भी हमें अनेकता दिखाई पड़ती है। वैदिक युगमें देवताओंको अप्रसन्न करना या याज्ञिक क्रियाओंसे विमुख रहना पाप समझा जाता था। परम सत्यको बुद्धि द्वारा नहीं समझा जा सकता। बुद्धि सत्यका खण्डित और धुंधला रूप ही दिखाती है।

सत्यका खण्डित रूप ही पाप है। 'अनपेक्षित' की यथार्थताको समझ लेनेपर पापका कोई स्थान नहीं रहता। सत्यके इसी खण्डित रूपके कारण मनुष्य मनुष्यको अपनेसे अलग समझता है। सत्यके इस खण्डित-रूपसे छुटकारा पा लेना ही मोक्ष है। मोक्षमें अनेकताका भाव, जो सारे दुःखोंकी जड़ है, नहीं रहता, इसलिए मोक्ष आनन्दकी अवस्था है। मोक्ष इसी जीवनमें प्राप्त होता है, मृत्युके पश्चात् नहीं। मोक्ष प्राप्त व्यक्तिमें अनेकताकी भावना रहती तो है किन्तु वह उससे भ्रान्तिमें नहीं पड़ता, क्योंकि उसने अपने अनुभवमें एकताकी प्राप्ति कर ली होती है। मनुष्यका यही जीवन उसको पूर्णतातक पहुँचा देनेके लिए पर्याप्त है। मोक्ष 'कुछ हो जाना' न होकर एक वास्तविकताका पता लगा लेना मात्र है।

मोक्ष वैराग्य और ज्ञानसे प्राप्त होता है। अहंकारको मिटाकर अपनी संकीर्ण इच्छाओंपर विजय पा लेना वैराग्य है। दुष्कर्मोंसे विरत न होनेवाले, अशान्त और असमाहित चित्तवाले और चंचल मनवालेको ब्रह्म नहीं मिलता।[१] स्थिर होकर, गम्भीर होकर, शांत होकर, धैर्य-पूर्वक एकाग्र होकर जीवमें जीवको देखना चाहिए।[२] इसके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन आवश्यक हैं। अनेकताका अनुभव तुरन्त होता है, इसलिए एकताका उतना ही तीव्र और तुरन्त अनुभव अनेकताकी भावनाको मिटा सकता है। एकताको बुद्धिसे समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है, उसका अवलोकन भी आवश्यक है। अतएव निदिध्यासन बहुत आवश्यक है। साधनाकी प्रारम्भिक अवस्थाओंके कई तरीके हैं। उन्हें उपासना कहते हैं। उपासनामें विचारधारा बहिर्मुखी होती है। उपासनामें बाहरकी किन्हीं दो वस्तुओंपर विचार-धाराको एकाग्र करके उन वस्तुओंकी समानता मनसे की जाती है। इससे एकाग्रताका अभ्यास हो जाता है किन्तु निदिध्यासनमें वस्तुके स्थान-

१ दे०, कठोपनिषद्, १।२।२४।

२ दे०, दृहदारण्यक,

पर अपने जीवको रखना होता है। यह तरीका श्रेष्ठ है और ब्रह्मकी प्राप्तिमें सीधा सहायक होता है, क्योंकि ब्रह्मको जीवके समान ही समझना पड़ता है।

जीवन और मृत्युके लगातार होते रहनेको संसार या आवागमन कहा जाता है। आवागमन कर्म-सिद्धान्तके कारण होता है। कर्म-सिद्धान्त जीवकी धारणामें निहित है। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मा मृत्युके उपरान्त दूसरे शरीरमें प्रविष्ट होती है और उस शरीरका रूप उसके पूर्वकर्मोंपर निर्भर होता है।[१] कर्म-सिद्धान्त यह बतलाता है कि नैतिक और भौतिक दोनों जगतोंमें कुछ भी बिना कारण नहीं होता। अपने दुःखोंका कारण हम स्वयं हैं। कर्मसिद्धान्तमें विश्वास रखनेसे व्यक्तिमें उत्तरदायित्वकी भावना आ जाती है। व्यक्ति जो कुछ भी करता है आगे चलकर उसे उसका फल अवश्य मिलता है। वह चाहे तो अपनेको बना भी सकता है और बिगाड़ भी सकता है। कर्म-सिद्धान्तमें व्यक्तिके पुरुषार्थका उचित सम्मान है, वह केवल नियतिके हाथका खिलौना मात्र नहीं है।

कुछ विद्वानोंके अनुसार आवागमनका सिद्धान्त आर्योंने अपने नए घरके आदिम निवासियोंसे सीखा था। इस सिद्धान्तका विकास भारतवर्षमें ही हुआ और महात्मा बुद्धके समयतक यह दूर दूरतक फैल गया था। इस सिद्धान्तका अंकुर ऋत्‌की धारणामें पाया जाता है। यह सिद्धान्त व्यक्तिकी तार्किक बुद्धि और उसकी नैतिक चेतनताको सन्तुष्ट करता है। मोक्षका अर्थ इसी आवागमनके चक्रसे छूट जाना है।

---

१ दे०, कठोपनिषद्, ५।७

चार्वाक-विचारधारा

कोरे ज्ञानसे ऊबकर उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया करने लगना शायद मनुष्यका स्वभाव है। उपनिषदोंके निर्गुण ब्रह्म और मोक्ष प्राप्तिके लिए जीवनकी उपेक्षा लोगोंको असह्य हो चली। क्या जीवन इन्हीं सब बातों-के लिए है? हम क्यों न जीवनका सुख भोगें? हम इस जीवनकी उपेक्षा कर पुनर्जीवनके लिए क्यों चिन्तित हों? क्यों न हम इसी जीवनमें सुख-पूर्वक रहें और कर्ज़ लेकर भी घी पीते रहें। मर जानेके बाद कौन जानता है कि शरीर कहाँ जाता है और न जाने फिर मिलता है या नहीं।[1] इसलिए कुछ विचारकोंने उपनिषदोंके निर्गुण ब्रह्म और ज्ञानके विरुद्ध उसी प्रकार प्रतिक्रिया की जिस प्रकार उपनिषदोंने ब्राह्मणोंके कर्मकांड और याज्ञिक क्रियाओं आदिके विरुद्ध की थी। फलस्वरूप कई संप्रदायों[2] का जन्म हुआ जिनमेंसे आजकल चार्वाक सम्प्रदायका नाम ही अधिक प्रचलित है।

चार्वाक कौन था? यह ऐतिहासिक रुचिका प्रश्न है। चार्वाकका अर्थ भी अनेक प्रकारसे किया जाता है। कुछ विद्वान् इसका अर्थ 'चारु वाक्' अर्थात् मीठा बोलनेवाला करते हैं और कुछ 'चर वाक्' अर्थात् खाने पीने-की बातें करनेवाला भी लगाते हैं। चार्वाकके मतको लोकायत नाम भी दिया जाता है। लोकायत शब्द बहुत पुराना है और कौटिल्यके

---

१ यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

२ दे०, श्वेताश्वतरोपनिषद्।

अर्थशास्त्रमें इसे सांख्य-योगके समान आन्वीक्षिकी[1] माना गया है। लोकायत (लोक + आयत) शब्दका अर्थ है लोक तक ही सीमित रखना।

चार्वाक प्रत्यक्षको ही प्रमा (ठीक ज्ञान) का एकमात्र साधन मानता है। अनुमानके साथ अन्य प्रमाणोंको नहीं माना गया है। अनुमान व्याप्तिपर निर्भर करता है और व्याप्तिको सिद्ध करनेका कोई साधन नहीं है। व्याप्ति देखी हुई बातपर निर्भर है और देखी हुई बातके आधार पर प्राप्त किए हुए नतीजेको समष्टिगत नहीं बनाया जा सकता। कुछ कौओंको काला देखकर यह कैसे अनुमान किया जा सकता है कि दुनियांके सभी कौए काले ही होंगे। अनुमानकी सत्यतामें इसलिए विश्वास कर लिया जाता है कि देखनेके समय एक सम्बन्धकी स्थापना हो जाती है। इसलिए अनुमान करना एक मनोवैज्ञानीय क्रिया मात्र ही है। अनुमान के पीछे कोई बौद्धिक तथ्य नहीं है।

ज्ञानके इस दृष्टिकोणसे जगत्में कोई क्रम या तारतम्य है या नहीं इस विषयपर कुछ नहीं कहा जा सकता। चार्वाक प्रत्यक्षको प्रमाका साधन तो मानता है किन्तु उसमें किसी आवश्यक सम्बन्धको नहीं मानता। प्रत्यक्षमें भ्रम भी रहता है, इसलिए चार्वाक सभी प्रमाणोंको संदिग्ध मानता है।

चार्वाकने चार भूत माने हैं। ये भूत स्थूल हैं। अनुमानको न माननेसे आकाश और भूतोंके सूक्ष्म रूपको नहीं माना जा सकता क्योंकि आकाश और भूतोंका सूक्ष्मरूप अनुमान पर निर्भर करता है और इन्द्रियों-से नहीं जाना जा सकता।

आत्मा इन्द्रियोंसे नहीं जानी जा सकती इसलिए उसको भी नहीं माना गया है। आत्माकी उत्पत्ति जीवित शरीरके तत्त्वोंके मेलसे उसी प्रकार होती है जिस प्रकार विभिन्न चीजोंके मेलसे मदिरा बनती है और

---

१ 'आन्वीक्षिकी न्यायशास्त्रका सबसे पुराना नाम है।

उसमें मादकताका गुण आ जाता है। इससे स्पष्ट है कि चार्वाक चेतन सिद्धान्तमें विश्वास तो करता है किन्तु उसे परम नहीं मानता। चेतनता शरीरके विभिन्न भूतोंके मेलसे उत्पन्न एक विशेषता है जो शरीरान्तके बाद नहीं रहती ? कुछ विद्वानोंके मतमें चेतनता चारों भूतोंसे उत्पन्न होती है (उत्पद्यते), और कुछके मतमें मदिराकी मादकताकी भांति उसकी अभिव्यक्ति होती है (अभिव्यज्ञते)। शरीरकी विशेषताएं दुख सुख ही हैं क्योंकि वही शरीरमें परिवर्तन लाते हैं।

आत्माका अस्तित्व प्रदर्शित नहीं किया जा सकता इसलिए चार्वाक-के विरुद्ध कुछ कह सकना कठिन है। चार्वाकके आस्तिक आलोचक आत्मा-का अस्तित्व प्रदर्शित नहीं कर सकनेको स्वीकार तो करते हैं किन्तु वे यह भी कहते हैं कि शरीर और आत्माकी अविभिन्नता भी प्रदर्शित नहीं की जा सकती। चेतनता यदि शरीरका गुण है तो या तो वह नित्य है या केवल संयोग मात्र। चेतनताको यदि नित्य माना जाय तो उसे शरीरान्त तक रहना चाहिए किन्तु बेहोशी या स्वप्नरहित नींदमें चेतनता नहीं रहती। चेतनताको संयोग मात्र माननेपर उसकी उत्पत्तिके लिए किसी और उपाधि को मानना पड़ता है और वह उपाधि शरीर नहीं हो सकता। चेतनता-को शरीरका गुण नहीं कहा जा सकता। आंख प्रकाशकी सहायतासे देखने-की क्रिया अवश्य करती है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि देखना प्रकाश का गुण है। शरीर चेतनताका कारण न होकर उसकी अभिव्यक्तिका उपकरणमात्र ही हो सकता है।

चार्वाक किसी अलौकिक सत्ता, ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म आदिमें विश्वास नहीं करता। जीवनकी उत्पत्ति केवल स्त्री और पुरुषके सम्भोगसे होती हैं, इसलिए जीवनमें भोगके अतिरिक्त और क्या हेतु हो सकता है ? भोग ही सब कुछ है। सुख प्राप्ति ही जीवनका प्रमुख उद्देश्य है। व्यक्ति-के सुखमें ही सबका सुख है। चार्वाकका आदर्श 'मन चंगा तो कठौतीमें गंगा' है। वह व्यक्तिके सुखको ही प्रधानता देता है। चार पुरुषार्थों—

अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष—मेंसे केवल काम और अर्थ ही माने गए हैं। काम-की प्राप्तिके ही लिए अर्थोपार्जन करना चाहिए। जो उपयोगी है वही अभीप्सित और अच्छा है। संसार दुखमय है। उससे छुटकारा पाना और किसी भी मूल्यपर सुखको पा लेना ही चार्वाकका लक्ष्य है। मोक्ष-के आदर्शसे रहित किसी विचारधाराको समझा जा सकता है किन्तु धर्मसे रहितको नहीं। आज हमें यह विश्वास करनेमें कठिनाई होती है कि कभी ऐसी विचारधारा भी रही थी। वेदों, आत्मा आदिका खण्डन करनेसे चार्वाक सदैव आस्तिकोंकी उपहास सामग्री रहा है। अपने वर्तमान रूपमें तो चार्वाक-विचारधारा आस्तिकोंके दूषित पक्षपातसे विकृत हो गई है। सम्भव है कभी इसमें कम दोष रहे हों।

गीता

उपनिषदोंने ब्राह्मणोंके कर्मकांडके आडम्बरोंके विरुद्ध और चार्वाक-ने उपनिषदोंके निर्गुण ज्ञानके विरुद्ध प्रतिक्रिया कर दी थी। उपनिषदोंने ज्ञानपर जोर देकर जीवनकी उपेक्षा कर डाली और चार्वाकने भोग-विलास पर जोर देकर ज्ञानको भुला डाला। दोनोंने जीवन और ज्ञानके बीच एक गहरी खाई खोद दी जिसने तत्कालीन समाजमें व्यावहारिक विषमताएं उत्पन्न कर दीं और उचितानुचितमें विवेक करना कठिन हो गया।

गीताने इस व्यावहारिक विषमताको दूर करनेके लिए **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**का आश्वासन दे दिया। ज्ञान और जीवनके बीच जो खाई बन गई थी गीताने उसपर पुल बनानेका सराहनीय प्रयत्न किया। गीताने व्यावहारिक सामञ्जस्य लानेपर ही अधिक ध्यान दिया और परम सत्यकी खोज विषयक अपना कोई मौलिक दृष्टिकोण देनेका प्रयत्न नहीं किया। यों तो गीताने अपने समयकी सत्यविषयक सभी खोजोंका समन्वय कर उनका आदर करनेकी चेष्टा की, किन्तु उस समयके वातावरणमें सांख्य विचारधारा[1] के सिद्धान्तोंकी प्रधानता होनेके कारण गीतापर सांख्यका ही गहरा प्रभाव पड़ा। और यह स्वाभाविक ही था क्योंकि सांख्यका द्वैत मनुष्यके स्वभावमें भी पाया जाता है। मनुष्य एक ओर तो ज्ञान चाहता है और दूसरी ओर जीवनके भोगोंको भी छोड़नेको तैयार नहीं होता। ज्ञानको व्यवहारानुगुण बना सकनेकी और व्याव-हारिकताका ज्ञानसे सामञ्जस्य स्थापित कर सकनेकी समस्या मनुष्यके सामने सदासे रही है।

---

१ सांख्य विचारधाराका पूरा विवरण 'सांख्य-योग' अध्यायमें देखिए।

गीता महाभारतके भीष्मपर्वका एक भाग है। उचितानुचितकी समस्या प्रदर्शित करनेके लिए गीताने कौरवों और पाण्डवोंके युद्धके रूपकका आश्रय लिया है। वह रूपक कोई सच्ची घटना रही थी या नहीं यह हमारे मतलबकी बात नहीं है। यद्यपि कुछ विज्ञों[1]ने यह दिखानेके लिए कि गीतामें अहिंसाकी शिक्षा भी दी गई है उस रूपकको मनुष्यके मानसिक स्तरपर होनेवाला आसुरी और दैवी प्रवृत्तियोंका युद्ध माना है; तथापि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मानसिक अन्तर्द्वन्द्वोंका कारण भौतिक जगत्की घटनाएं ही हुआ करती हैं।

जगत्की उत्पत्तिका कारण गीता सांख्यकी भांति प्रकृति[2]को ही मानती है। यहां गीता और उपनिषदोंमें मतभेद है, क्योंकि उपनिषद् जगत्की उत्पत्ति ब्रह्मसे मानते हैं। प्रकृतिके तीन गुण हैं, सत्व, रजस् और तमस्। प्रकृतिके इन्हीं तीनों गुणों द्वारा जीव देहके वन्धनमें आता है[3]। गीता क्षर अर्थात् नाशवान् और अक्षर अर्थात् नाशहीन दो पुरुषोंको मानती है। भूतमात्र क्षर हैं और भूतोंमें स्थित अन्तर्यामी अक्षर हैं।[4] गीताका अक्षर सांख्यके महत्से मिलती-जुलती चीज है। क्षर पुरुषसे गीताका तात्पर्य शायद मनुष्यकी इन्द्रियों और मनस्से है जो मनुष्यके साथ ही नष्ट हो जाते हैं। अक्षर शायद मनुष्यकी आत्मा है जिसका नाश नहीं होता।

क्षर और अक्षर पुरुषके अतिरिक्त गीता एक उत्तम पुरुषको (जो सांख्यके पुरुषसे मिलता-जुलता है) भी मानती है जो परमात्मा है[5] और

---

१ देखिए, महात्मा गांधी कृत अनासक्ति योग।

२ देखिये, सांख्य विचारधारामें प्रकृतिका विवरण।

३ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥१४।५।

४ द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१५।१६।

५ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥१५।१७।

प्रकृतिसे परे सनातन और अव्यक्त है। सारा जगत् उस अव्यक्त रूपसे भरा हुआ है।[१] उसे न सत् कहा जा सकता है और न असत् (**न सत्तन्नासदुच्यते**)। वह संसारको धारण करके भी संसारसे उसी प्रकार अलिप्त रहता है जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण किसी भी वस्तुसे लिप्त नहीं होता। वह सर्वसाक्षी, अनुमति देनेवाला और भोक्ता है[२] और अक्षर पुरुष (मनुष्यकी आत्मा) में प्रतिविम्बित होकर देहमें रहता है। स्वयं गुणरहित होनेपर भी वह गुणोंका भोग करता है।[३]

पुरुष और प्रकृति अनादि हैं, विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं। प्रकृति कार्य-कारणका हेतु है और पुरुष सुख दुखके भोगका[४]। अज्ञानी मनुष्य अहंकारवश ही अपनेको कर्त्ता समझता है परन्तु वास्तवमें प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुण ही उससे जवरदस्ती सब कुछ कराते हैं।[५] इस प्रकार गीताका सत्यविषयक दृष्टिकोण ही हमें कर्मकी ओर ढकेल देता है।

अज्ञानजनित अपने इसी अहंकारके कारण मनुष्य सत्यको नहीं देख पाता। अहंकारके कारण ही वह व्यावहारिक विषमताएँ उत्पन्न कर लेता है। ईश्वर न तो मनुष्यको पापकी ओर प्रवृत्त करता है और न ही पुण्यकी ओर।[६] पाप पुण्य व्यावहारिक विषमताओंका ही परिणाम

---

१ **मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।९।४।**

२ दे०, १३।२२

३ **निर्गुणं गुणभोक्तृ च।१३।१४**

४ **प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।**
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।१३।१९–२०

५ **कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।**
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। ३।५–२७

६ **नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।५।१५।**

हैं। अतएव इस अज्ञानजनित अहंकारको जो सारी विषमताओंकी जड़ है दूर कर सकनेका उपाय ढूंढ़ना ही गीताकी मुख्य समस्या है।

यह सच है कि विषमताएं कर्म द्वारा ही उत्पन्न होती हैं और यह भी सच है कि हम अहंकारवश ही अपनेको उन कर्मोंका कर्त्ता समझते हैं। तो अहंकारको मिटा सकनेका सीधा सा रास्ता यही है कि कर्म ही न किए जायँ जिससे कर्त्ता होनेका भाव न रहे। फिर क्या कर्मोंको दोषमय समझकर त्याग दिया जाय ? किन्तु ऐसा निश्चय करनेके पहले हमें ज़रा ठहरना चाहिए। कर्मके विना शरीरका व्यापार नहीं चल सकता। हम कर्मका त्याग तो नहीं कर सकते किन्तु अपनेको कर्त्ता समझनेकी भावना का त्याग अवश्य कर सकते हैं। कर्मका सर्वथा त्याग कर देना तो देहधारी-के लिए असम्भव है किन्तु वह कर्मफलकी इच्छाका त्याग कर सकता है।[१] कर्म करते हुए कर्ममें ही कर्त्तभावको नष्ट कर सकनेकी संभावना गीताकी महान् खोज है। अपनेको कर्त्ता समझनेके कारण ही मनुष्य लोकमें बंधन उत्पन्न कर लेता है। कर्मफलकी इच्छाके त्याग कर देनेपर अपनेको कर्त्ता समझनेका भाव लुप्त होकर अहंकार मिट जाता है। कर्म-फलकी इच्छा रखनेसे ही मनुष्य प्रकृतिके गुणोंसे मोहित होकर गुणोंके कामों में आसक्ति रखने लगता है और जो गुणोंसे परे हैं उसको नहीं जान पाता।

किन्तु कर्म करते हुए कर्मफलकी इच्छाको कैसे मिटाया जा सकता है ? इसके लिए गीताने दो मार्ग बताए हैं, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग। ईश्वरने जगत्‌में न तो कर्म रचा है और न ही उसका कोई कर्त्ता और न ही कर्म और फलका मेल। प्रकृति ही सब कुछ करती है।[२] जो इसे समझ-

---

१ न हि देहभता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥१८।११।

२ न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥५।१४।

कर आत्माको अकर्त्ता जानता है, वही ज्ञानी है। ज्ञानसे बढ़कर पवित्र करनेवाली और कोई वस्तु नहीं है। सारे कर्म ज्ञानमें परिसमाप्त हो जाते हैं[१]। बड़ेसे बड़ा पापी भी ज्ञानरूपी नौका द्वारा सब पापोंसे तर जाता है। ज्ञानसे मनुष्यमें समदृष्टि आ जाती है और जब मनुष्यका मन समत्वमें स्थिर हो जाता है तो वह इस देहसे ही संसारको जीत लेता है।[२] ज्ञानी मनुष्यका मन उसके वशमें रहता है और उसे संग्रहकी लालसा नहीं रहती। उसका शरीरमात्र ही कर्म करता है और जिसका शरीरमात्र ही कर्म करता है वह करते हुए भी दोषी नहीं होता।[३]

भक्तिमार्ग गीता उन लोगोंको बताती है जिन्हें ज्ञान दुर्लभ है। जो मन्दबुद्धि हैं उनके लिए फलेच्छासे रहित होकर कर्म करना निरुद्देश्य है और निरुद्देशितासे काम कर सकना साधारण मनुष्यकी प्रकृतिके प्रतिकूल है। ऐसे लोगोंको फलेच्छारहित कर्म इस प्रकार समझाया गया है कि भगवान्को प्रसन्न करनेके लिए कर्म करो, अपने लिए नहीं। भगवान्को प्रसन्न करनेका उद्देश्य ही उन्हें बिना फलासक्तिके कर्म कर सकनेकी क्षमता और प्रेरणा दे देता है।

गीताका कर्मयोग उसके सत्यविषयक दृष्टिकोणका ही सीधा परिणाम है। कर्म तो ज्ञान और जीवनमें सामञ्जस्य स्थापित कर सकनेका एक साधन मात्र ही है, साध्य नहीं। अतएव यह समझना कि गीता कर्मयोग-की शिक्षा देती है भ्रम है। बिना कर्मको साध्य माने ऐसा समझना असंगत है और यह निश्चय है कि गीता कर्मको साध्य नहीं मानती। कर्मके साथ 'फलकी आशा न हो' यह शर्त ही इसकी सूचक है कि गीता कर्मको साध्य

---

१ सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।४।३३।

२ इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।५।१९।

३ निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥४।२१।

नहीं समझती, वरन् कर्मको केवल एक आवश्यक साधन मानकर उसमें आसक्ति न रखनेकी शर्तसे किसी अन्य श्रेष्ठ वस्तुकी ओर इशारा करती है। और वह वस्तु है ज्ञान।

कर्म न करनेसे मनुष्य निष्कर्मताका अनुभव नहीं कर सकता और मोक्ष कर्मके केवल बाहरी त्यागसे नहीं मिलता[1]। '**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः**' से या '**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं**'के कारण क्षोभ और ग्लानिसे भरकर कर्मसे विमुख होना श्रेयस्कर नहीं है। नियत कर्मको फलेच्छा, आसक्ति और रागद्वेषसे रहित होकर करना ही सात्त्विकताका लक्षण है[2]। '**मदर्थे त्यक्त-जीविताः**' होकर रणक्षेत्रमें खड़े '**नानाशस्त्रप्रहरणाः**' और '**सर्वे युद्धविशा-रदाः**' शूरोंको देखकर अर्जुन कायरताके कारण और अपने सम्बन्धियोंके मोहके कारण निरुत्साहित हो गया था। अर्जुन भूल गया था कि वह सैनिक है और सैनिकका क्षत्रिय स्वभाव ही उसे युद्धमें प्रवृत्त कर देनेके लिए बहुत है। स्वभाव प्रकृतिकी देन है और प्रकृतिके व्यापार कालके '**दंष्ट्राकरालानि भयानकानि मुखानि**' में बेरहमीसे होते रहते हैं। मनुष्य तो उन व्यापारोंको करनेका केवल निमित्तमात्र है।[3]

जो काम संकीर्ण इच्छासे जन्य फलकी प्राप्तिको अलग हटाकर किया जाता है वह एक बड़े आदर्शके लिए किया जाता है। यह प्रवृत्तिका उच्चतम रूप है। गीता व्यक्तिके अपने ही लिए किए गए कर्मोंको महत्त्व नहीं देती। व्यक्तिके निजी कर्मोंसे भी अधिक आवश्यक हैं उसके सामाजिक कर्तव्य। इसप्रकार गीता प्रवृत्तिके अर्थको बदल देती है।

सामाजिक कर्तव्योंपर जोर देकर गीता व्यक्तिकी उपेक्षा नहीं करती।

---

१ **न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।**
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥३।४।

२ **नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।**
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥१८।२३।

३ दे०, ११।३३।

सामाजिक कर्तव्योंके पालन करते रहनेसे व्यक्तिका आध्यात्मिक विकास होता रहता है और वह उसे जीवनके ऊंचे स्तरोंपर पहुँचाता रहता है।

लक्ष्यप्राप्तिके बाद भी, पूर्णता पा लेनेके उपरान्त भी, गीता कर्म करते रहनेकी शिक्षा देती है। अकर्मण्यता अनुचित कार्यके बराबर है। इस दृष्टिकोणसे निवृत्ति अथवा संन्यासका भी अर्थ बदल जाता है। स्वयं ईश्वर भी जिसे संसारमें कुछ करना या पाना नहीं है कर्ममें लगा रहता है[1]। यदि ईश्वर कर्म न करे तो लोकोंका नाश हो जाय[2]। संन्यासका अर्थ अकर्मण्यता नहीं है। इस प्रकार गीता निवृत्तिका अर्थ भी बदल देती है।

गीताका सत्यविषयक दृष्टिकोण निर्गुण ब्रह्मकी स्थापना करता है। किंतु निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान साधारण मनुष्यको दुर्लभ है, इसलिए गीताने निर्गुण ब्रह्मकी अभिव्यक्ति सगुण रूपमें की है। उपनिषदोंमें जिस ब्रह्मको वाणीसे व्यक्त नहीं किया जा सकता था[3], गीताने उसीको 'विभूतियोग' के अध्यायमें रूपकों द्वारा वाणीसे प्रकट करनेका प्रयत्न किया है। इस प्रकार गीतामें सगुण ब्रह्मका वर्णन है तो किन्तु वह निर्गुण ब्रह्मको समझानेका एक साधन मात्र ही है, यह नहीं कि गीता सगुण ब्रह्मको श्रेष्ठ मानती है।

जब प्रकृति ही सब कर्म कराती है तो क्या हम कर्म करनेमें स्वतन्त्र हो सकते हैं? क्या हम अच्छे और बुरे मार्गका चुनाव कर सकते हैं? गीताके दृष्टिकोणके अनुसार अच्छा और बुरा तो हमारी व्यावहारिक विषमताओंका परिणाम है। व्यावहारिक विषमताएँ जीवके लौकिक

---

१ न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥३।२२॥

२ उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ॥३।२४।

३ नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते। कठ, ६।१२।

रूप (अहंकार)में मोह रखनेसे होती हैं। यदि जीवके लौकिक रूपमें मोह न रक्खा जाय तो व्यावहारिक विषमताओंका कोई स्थान ही न रहे। किन्तु क्या जीवके लौकिक रूपसे उदासीन रहा जा सकता है? हां, यदि हम चाहें तो, क्योंकि अपने जीवसे भी बड़े जीवका हमें ज्ञान है। अपनेसे बड़े उस जीवका ज्ञान ही हमारे पार्थिव मस्तिष्कमें, हमारी इच्छाओं और संकल्पोंमें द्वन्द्व उत्पन्न करता रहता है। इच्छाओं और संकल्पोंके द्वन्द्व-की चेतनामें ही कर्मके औचित्यको चुन सकनेकी सम्भावना निहित रहती है।

प्रत्येक कर्मके दो प्रभाव होते हैं। एक तो कर्म द्वारा व्यक्ति तत्काल सुख या दुखका अनुभव करता है और दूसरे कर्म व्यक्तिमें उस कर्मको फिर करनेकी प्रवृत्ति पैदा करता है। कर्मकी इस प्रवृत्तिको संस्कार कहते हैं। हम अपने संस्कारोंपर अधिकार कर सकते हैं, इसलिए कर्म सिद्धान्तमें एक प्रकारका दायित्व या प्रयत्न भी निहित है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त यह मानता है कि मनुष्यका भविष्य उसके हाथमें है। जगत् एक कार्य-क्षेत्र है जहां कर्त्ताको विचारपूर्वक कर्म कर सकनेका अवसर दिया गया है। उसे यह अवसर किसी भी मूल्यपर खोना नहीं चाहिए।

कर्मसिद्धान्त पुनर्जन्ममें विश्वास करता है। मनुष्यका जीवन इतना कम है कि वह इसी जीवनमें कर्म द्वारा अपने संस्कारोंको सुधारकर पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। पूर्णता प्राप्त करनेके लिए उसे कई जन्मोंकी अपेक्षा होती है।

आज हमारे सामने जब क्षितिजकी रेखाएँ धुंधली पड़ जाती हैं, विवशताओंकी जञ्जीर कुछ और कस जाती है, अन्धकार छा जाता है और दिशाभ्रम होने लगता है, तब महाभारतके उस सुदूरकालसे आती हुई एक दीपककी लौ बरबस आंखोंके सामने झिलमिला जाती है।

जैन-विचारधारा

गीताने 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः' कहकर ज्ञानयज्ञको द्रव्य-यज्ञोंसे श्रेष्ठ तो ठहरा दिया किन्तु द्रव्ययज्ञोंमें की जानेवाली हिंसापर अपना कोई निश्चित मत स्पष्ट नहीं किया। ईश्वरको प्राप्त करनेके लिए यज्ञादिमें जो हिंसा की जाती है वह उचित है या अनुचित इसपर गीता चुप रही। जैन विचारधाराने इसका निश्चित स्वरमें विरोध करके यह दिखा दिया कि मनुष्यकी कोमल भावनाएँ ईश्वरसे श्रेष्ठ हुआ करती हैं।

जैन 'जिन' शब्दसे निकला है जिसका अर्थ है राग द्वेष आदिपर विजय पा लेनेवाला। इस प्रकार जैन विचारधारा व्यावहारिक दृष्टिकोणको लेकर चलती है। जैनियोंके चौबीस तीर्थंकर हुए थे। अन्तिम तीर्थंकर महावीर थे। उनका समय ५४२ से ४७० संवत् पूर्व तक माना जाता है। उनकी शिक्षाएँ उनसे पहले ऋषभदेव, पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकरोंकी मूल अहिंसा सिद्धान्तके अनुसार थीं।

जैनियोंने जगत्की सारी वस्तुओंका विभाग जीव और अजीव—चेतन और जड़—की श्रेणीमें किया है। जीव शब्दका अर्थ है 'जीवित रहनेवाली वस्तु।' जीवकी धारणा जीवनकी विशेषताके अवलोकनपर आधारित है। इसलिए जीवका अर्थ यहां आत्मा न होकर भी जीवनको गति देने-वाला सिद्धान्त है। जीवोंकी संख्या अगणित है। इससे स्पष्ट है कि जैनी अनेकवादी हैं। सब जीव एक समान और नित्य हैं। वे भोक्ता तथा कर्त्ता दोनों ही हैं। उनका कोई निश्चित आकार या परिमाण नहीं है। उनमें आकुञ्चन और प्रसारण होता है। वे सावयव पदार्थ हैं। उनमें असीम शांति, असीम ज्ञान और असीम शक्ति होती है।

जैनी जीवकी व्यापकताको नहीं मानते। उनका कहना है कि जीव-की उपस्थितिका अनुमान ज्ञान, चेतना आदि गुणोंके द्वारा ही होता है

और ये गुण शरीरके बाहर नहीं पाए जाते। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि जीवकी सत्ता शरीरके बाहर भी रहती है।

अजीव अर्थात् संसारकी जड़ वस्तुओंको पांच भागोंमें विभाजित किया गया है। काल, आकाश, धर्म (यहां धर्मका अर्थ गतिका माध्यम है), अधर्म (अर्थात् स्थिरताका माध्यम) और पुद्गल[1]। इन पांचोंमें जीवन और चेतनता नहीं होती। इनमें काल और आकाश अनन्त हैं। आकाशके दो भाग हैं, एक तो लोकाकाश जहां गति सम्भव है और दूसरे अलोकाकाश जहां गति सम्भव नहीं है। पुद्गलमें रंग, स्वाद, गन्ध और स्पर्श गुण होते हैं। ध्वनि पुद्गलका परिणाम है, गुण नहीं। पुद्गल नित्य है और मूलतः परमाणु रूप है। सारी वस्तुओंका निर्माण—ज्ञानेन्द्रियों और मनस्का भी—परमाणुओंसे होता है। यह जैनियोंका परमाणु-वाद है। पुद्गलका अन्तिम विश्लेषण ही परमाणु है। परमाणु अमूर्त (इन्द्रिय अग्राह्य) होकर भी मूर्त वस्तुओंको उत्पन्न करते हैं। परमाणुओंसे उत्पन्न वस्तुओंकी पृथक्ता उन वस्तुओंमें निहित परमाणुओंके रंग, रूप, गन्ध आदिके भेदके कारण होती है। परमाणुओंको केवल सर्वज्ञ ही देख सकते हैं। परमाणुओंके समूहको 'स्कन्ध' कहते हैं। जगत् एक महा-स्कन्ध है।

कर्म भी पुद्गलका ही सूक्ष्म रूप है। जैन दृष्टिकोणके अनुसार पुद्गल जब अपनी सूक्ष्मावस्थामें होता है तब उसके परमाणु किसी भी संख्यामें एक स्थूल परमाणुकी जगह घेर सकते हैं। पुद्गलकी यही सूक्ष्मावस्था कर्म है जो जीवसे संबंधित होकर संसार उत्पन्न करती है। कर्मके अनेक भेद हैं। ज्ञानावरणीय कर्म जीवका ज्ञानमय स्वरूप ढँक लेते हैं। दर्शना-वरणीय कर्म दर्शनगुणको प्रकट नहीं होने देते। वेदनीय कर्म जीवके आनन्दमय स्वरूपको आच्छादित कर दुःखका हेतु बन जाते हैं और मोहनीय

---

१ अंग्रेजी शब्दावलीमें पुद्गलका पर्याय Matter है।

कर्मोंसे विश्वास और सच्ची श्रद्धा नष्ट होकर मन अशांत रहने लगता है। जीवकी उन्नतिको रोकनेवाले कर्म अंतराय कर्म कहलाते हैं।

ज्ञान जीवकी विशेषता न होकर उसका स्वरूप ही है। जीवको इन्द्रियोंकी सहायताके बिना भी ज्ञान हो सकता है। ज्ञान पांच प्रकारका होता है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मतिज्ञान मन और इन्द्रियों द्वारा होता है। इसमें स्मृति और प्रत्यभिज्ञा (पहले देखी हुई वस्तुको पहचान लेना) भी है। शब्दों और संकेतोंसे प्राप्त ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। दिव्य दृष्टिसे अतीत, वर्तमान और भविष्यको जान लेना अवधिज्ञान है। दूसरेके चित्तकी दशाको जान लेना मनःपर्यय ज्ञान कहलाता है और मुक्त जीवोंको प्राप्त ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है। पहले दो प्रकारका ज्ञान परोक्ष है और अंतिम तीन प्रकारका प्रत्यक्ष।

सत्की तीन विशेषताएँ हैं, उत्पाद, व्यय और ध्रुवता। उत्पत्तिके विना नाश और नाशके बिना उत्पत्ति नहीं हो सकती। उत्पत्ति और नाशका आश्रय कोई ध्रुव पदार्थ ही हो सकता है। परिवर्तनमें भी जो वस्तु स्थिर रहती है उसे 'द्रव्य' कहते हैं[१]। द्रव्य परिवर्तित नहीं होता, उसके गुण और पर्याय ही बदलते हैं। सत् और सावयव (अथवा प्रदेशवाले) पदार्थको 'अस्तिकाय' कहते हैं। अस्तिकायका अर्थ है बहुप्रदेशी द्रव्य। कालके अवयव नहीं हैं इसलिए काल अस्तिकाय नहीं है।

द्रव्योंकी ध्रवता और उसके गुणों और पर्यायोंकी अस्थिरताको मानने से जैनी सत्का वर्णन एकता-में-अनेकतासे करते हैं। एकता-में-अनेकतासे तात्पर्य है कि परिवर्तनमें द्रव्य तो एक ही रहता है किन्तु उसके गुण और पर्याय अनेक। हम आजसे पांच वर्ष पूर्व जो थे वह अब नहीं हैं किन्तु फिर भी हम वही कहे जाते हैं। हमारे भीतर द्रव्य तो वही है किन्तु उसके

१ अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम्।
गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवाति ।।२।४ (प्रवचनसार)

पर्याय बदल गए हैं। अनुभव ही हमें सत्को एकता-में-अनेकता करके दिखाता है। यदि द्रव्यकी ओरसे देखा जाय तो वस्तु स्थिर रहती है और यदि पर्यायोंकी ओरसे देखा जाय तो वह परिवर्तित होती रहती है। इस प्रकार परिवर्तन और स्थिरता साथ साथ पाए जाते हैं। इन दोनोंको साथ साथ जानना 'सुनय' कहलाता है और एक दूसरेको अलग-अलग जानना 'नयाभास'। सत्यका यथार्थ रूप नयसे ही समझा जा सकता है। एक पदार्थको सब प्रकार सारे दृष्टिकोणोंसे देख लेनेपर उस पदार्थको सब प्रकार देख लिया जाता है; और सब प्रकारसे सब भावोंको देख लेनेपर उसी एक भावको अच्छी तरह जान लिया जाता है।[१]

स्याद्वाद अनेकांतवादको कहते हैं जिसके अनुसार एक ही वस्तुमें नित्यता, अनित्यता आदि अनेक गुण एक ही साथ विद्यमान रहते हैं।[२] स्यात् शब्दका अर्थ है एक सुनिश्चित दृष्टिकोण। इसका अर्थ 'शायद' नहीं है। सत्यके निश्चित स्वरूपकी परख अनेक दृष्टिकोणोंसे ही की जा सकती है। किसी एक दृष्टिकोणसे सत्यको नहीं जाना जा सकता। जैनी सत्यकी परख सात प्रकारसे करते हैं। इन्हें 'सप्तभंगी' कहते हैं।

१ स्यादस्ति (अमुक दृष्टिकोणसे 'है')
२ स्याद् नास्ति (अमुक निश्चित दृष्टिकोणसे 'नहीं है')
३ स्यादस्तिनास्ति (क्रमशः अमुकदृष्टिसे 'है' अमुक दृष्टिसे 'नहीं' है')
४ स्याद् अवक्तव्य (अमुक दृष्टिसे वचनोंके अगोचर है)
५ स्यादस्ति च अवक्तव्य (क्रमशः अमुक दृष्टिसे 'है' और अमुक दृष्टिसे 'अवक्तव्य' है)

---

१ **एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः।
(स्याद्वादमञ्जरी)**

२ **स्याद्वादोऽनेकांतवादो नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्। (स्याद्वादमञ्जरी)**

६ स्याद् नास्ति च अवक्तव्य (क्रमशः अमुक दृष्टिसे 'है' और अमुक दृष्टिसे 'अवक्तव्य' है)

७ स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्य (अमुक दृष्टिसे 'है' और अमुक दृष्टिसे 'नहीं' है और अमुक दृष्टिसे अवर्णनीय है)

किसी वस्तुकी सत्यताका निर्णय उस वस्तुके द्रव्य, धर्म, स्वभाव, देश और काल आदिके जाननेपर ही किया जा सकता है। यह दृष्टिकोण सापेक्षिक है। यहां जैन विचारधारा और उपनिषदोंमें मतभेद है, क्योंकि उपनिषदोंमें सत्यका दृष्टिकोण अनपेक्षित है और वहां सत्यका वर्णन भी एकताके आधारपर किया गया है।

मनुष्यका व्यक्तित्व आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्व, जीव और अजीव के सम्पर्कसे बनता है। जीव और अजीवका सम्पर्क कर्म-पुद्गल द्वारा होता है। कर्मके अनुसार ही उसी वर्गके परमाणु जीवसे संबंधित होकर जीवका कर्म-शरीर कार्मण वर्गणाएँ निर्मित करते हैं। पुद्गलसे संबंधित होनेके पश्चात् जीवकी विशेषताएँ तिरोहित हो जाती हैं। जीवनका उद्देश्य है कर्मपुद्गलसे छुटकारा पा लेना जिससे जीवकी विशेषताएँ व्यक्त हो सकें। कर्मकी बाधाके कारण ही जीवको अपूर्ण ज्ञान रहता है। कर्म जीवकी प्रत्यक्ष शक्तिमें बाधक है। जैनेतर विचारधाराओंमें अविद्या-को जीवकी प्रत्यक्ष शक्तिका बाधक माना गया है। जैनियोंके दृष्टिकोणके अनुसार ज्ञानेन्द्रियां और मनस् जहां एक ओर तो ज्ञान प्राप्त करनेके साधन हैं वहां दूसरी ओर वे जीवकी संसारयात्रामें उसकी विवशताएँ भी हैं।

परम सत्यकी अज्ञता आदिके कारण कर्म परमाणुओंकी गति जीवकी ओर हो जाती है, इसे 'आस्रव' कहते हैं। कर्मके सम्पर्कसे जीवकी प्रकृति पतित हो जाती है और वह अज्ञान आदिमें फँस जाता है। आस्रवके पश्चात् 'बन्ध'की अवस्था आती है जिसमें जीव कर्मोंसे सम्पूर्णतः जकड़ जाता है। सम्यक् ज्ञान और आत्मसंयमसे जीवकी ओर कर्म-पुद्गलकी गति रुक जाती है। इसे 'संवर' कहते हैं। फिर धीरे धीरे जीवपरसे

कर्मका प्रभाव हटने लगता है। इसे 'निर्जरा' कहते हैं। इसके बादकी अवस्था मोक्ष है। मोक्षमें जीव और अजीवमें सम्बन्धविच्छेद होकर जीव अपने मूलरूपमें आ जाता है। वह सर्वज्ञाता हो जाता है। इसीको केवलज्ञान कहा गया है। यही ज्ञानका मूलरूप है और इसे मुख्य-प्रत्यक्ष कहा जाता है। इन्द्रिय और मनसे जानना सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। मोक्ष पा लेनेके बाद जीव अजीवके बन्धनों और कर्मके प्रभावोंसे मुक्त होकर लोकाकाशके अन्तमें नित्य आनन्दमें रहता है। यही सिद्धि पाना है।

जिन कर्मोंसे जीवकी मूल प्रकृति आच्छादित होकर विकृत हो जाती है उन्हें पाप कहते हैं। पुण्य कर्म जीवको मोक्षकी ओर ले जाते हैं। अंतराय कर्मोंको मिटाकर पुण्य कर्मोंकी प्राप्ति ही जीवनकी सबसे बड़ी व्यावहारिक आवश्यकता है। मोक्षकी प्राप्तिके साधन सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र हैं। ये जैनियोंके त्रिरत्न हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (जगत्‌का त्याग) ये पांच महाव्रत हैं। इनमें अहिंसा प्रधान व्रत है। जनसाधारणके लिए इनके स्थानपर अणुव्रत रक्खे गए हैं। अणुव्रतमें पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण अपरिग्रहके स्थानपर स्वदारसंतोष और इच्छाएँ कम रखना बताया गया है। इस प्रकार सामाजिकताकी उपेक्षा भी नहीं की गई है। चरित्रको जाति और वर्ण दोनोंसे श्रेष्ठ माना गया है। चरित्र शुद्ध रखनेसे गृहस्थ भी क्रमशः मोक्ष पा सकता है। ऐसे जीवको 'गृहलिंगसिद्ध' कहते हैं।

जैनी ईश्वरमें विश्वास नहीं करते। जब कर्म स्वयं क्रिया करता रहता है तो ईश्वरकी क्या आवश्यकता है। जगत्‌का एक सर्वव्यापक, स्वतन्त्र और नित्य कर्त्ता मानना दुराग्रह मात्र है।[१] बिना देहके कर्त्ताको संसारमें किसने देखा है? जीव ही अपनी सम्पूर्ण विशेषताओंके व्यक्त होनेपर ईश्वर हो जाता है। ईश्वर जीवका ही दूसरा शब्द है। जैनियोंका ईश्वर वह आदर्श मनुष्य है जो मनुष्यका आदर्श है।

---

१ कर्त्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
इमाः कुहेवाक बिडम्बनाः स्युः तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्।
(स्याद्वादमञ्जरी)

बौद्ध-विचारधारा

गौतम बुद्धका समय ५०० संवत् पूर्व वताया जाता है। वे शाक्यवंश-के राजा शुद्धोदनके यहां जन्मे थे। बचपनसे ही वे बड़े कोमल हृदयके थे। संसारके दुःखोंने उनके हृदयको छू लिया था। एक रात वे प्रकाशकी खोजमें घर छोड़कर वनमें निकल गए। बुद्धकी शिक्षाएँ पालि भाषा-में त्रिपिटक ग्रन्थमें मिलती हैं।

बुद्धके समय तक विचारक्षेत्रमें पूरी अराजकता फैल चुकी थी। विचारकोंमें गहरे मतभेद हो चुके थे। लोग संदेहमें पड़कर पथभ्रष्ट होते जा रहे थे और व्यावहारिक जीवनपर इसका वहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा था। बुद्धने अपने समयकी विषमताको अच्छी तरह समझा और वे इस नतीजेपर पहुँचे कि वाद-विवादसे आचरण नहीं सुधर सकता, जीवन सुखी नहीं वन सकता। इसलिए उन्होंने अपनी शिक्षाओंमें व्यावहारिकता-को ही प्रधानता दी।

संसारमें सभी दुःखी हैं। दुःख क्यों होता है? संसारकी सारी वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं। वह प्रतिपल वनती विगड़ती रहती हैं। हमें कोई वस्तु प्रिय है, किन्तु अगले क्षण वह नष्ट हो जाती है। उसे खोकर हमें दुःख होता है। दुःख वस्तुओंकी क्षणभंगुरतासे ही उत्पन्न होता है। दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिए पहले क्षणभंगुरताको समझना चाहिए।

वस्तुओंके परिवर्तन या वनने बिगड़ने—क्षणभंगुरता—को क्षणिकवाद कहते हैं। हमारी इन्द्रियोंको जो कुछ भी अनुभव होता है वह जीव द्वारा होता है। जीवका अर्थ यहां अन्य विचारधाराओंके अर्थसे अलग है। जीव चेतनताकी अवस्थाओंसे निर्मित होता है। चेतनताकी अवस्थाएँ ही जीव हैं। चेतनताकी अवस्थाओंके संघात (समूह)को जीव कहते

हैं। जिस प्रकार सिर, हाथ, पैर, आंख, मुख आदिके संघातके अतिरिक्त मनुष्य नामकी कोई वस्तु नहीं होती, जिस प्रकार धुरी, पहिए, रस्सी आदिके संघातके अतिरिक्त रथकी अपनी अलग कोई सत्ता नहीं होती[१] उसी प्रकार चेतनताकी अवस्थाओंके संघातके अतिरिक्त जीव अपने आपमें कुछ भी नहीं होता।

जीव पांच स्कन्धोंके संघातसे बनता है : रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार। स्कन्धका अर्थ राशि या समूह है। जीवकी भांति भौतिक जगत् भी भूतोंके संघातसे ही बनता है। भूत चार माने गए हैं। पृथिवी, अप्, तेजस् और वायु। आकाशको सम्मिलित नहीं किया गया है। इन भूतोंका कारण 'अविज्ञप्ति'[२] है। अविज्ञप्तिको जाना नहीं जा सकता। अविज्ञप्ति वैशेषिक विचारधाराके 'अदृष्ट'से समता रखती है। यह चारों भूत, अविज्ञप्ति, पांच ज्ञानेन्द्रियां और उनके पांच विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श इन पन्द्रहोंको रूप स्कन्ध कहा जाता है। आंखोंसे रूपका, कानोंसे शब्दका, नाकसे गन्धका, जिह्वासे रसका, शरीरसे स्पर्शका और मनसे धर्म अर्थात् मानसिक भावोंका जो ज्ञान होता है उसे विज्ञान स्कन्ध कहते हैं। विज्ञान स्कन्धके साथ साथ यदि ज्ञानके विषयकी विशेषताएँ भी दिखाई दें तो उसे संज्ञा स्कन्ध कहते हैं। किसी मनुष्यको देखना तो विज्ञान स्कन्ध है किन्तु उस मनुष्यके साथ साथ उसके रंग-रूप, डीलडौल आदिका भी ज्ञान होना संज्ञा स्कन्ध है। संज्ञा स्कन्ध सं अर्थात् सम्यक् या विशेष रूपसे ज्ञ अर्थात् ज्ञान होनेको कहते हैं। सुख दुःखका अनुभव वेदना स्कन्ध कहलाता है। मनपर इन्द्रियोंके अनुभव आदिकी जो छाप

---

१ दे०, मिलिन्दप्रश्न और विसुद्धिमग्ग।

२ अभिधर्मकोशमें अविज्ञप्तिका लक्षण यों बताया गया है।

'विक्षिप्ताचित्तकस्यापि योऽनुबन्धः शुभाशुभः।
महाभूतान्युपादाय सा ह्यविज्ञप्तिरुच्यते ॥'

रह जाती है उसे संस्कार स्कन्ध कहते हैं। रूप स्कन्ध जीवमें भौतिक तत्त्वको और शेष स्कन्ध अभौतिक तत्त्वको बतलाते हैं ।

चेतनताकी अवस्थाएँ (अर्थात् यह पांचों स्कन्ध जिनके संघातसे जीव बनता है) प्रतिपल परिवर्तित होती रहती हैं । इसे नैरात्म्यवाद कहा जाता है । नैरात्म्यवादका अर्थ है कि शरीरमें आत्मा नामकी कोई स्थिर और अपरिवर्तनशील वस्तु नहीं है । हमारे व्यक्तित्वकी जो भी विशेषता हमें दूसरे व्यक्तियोंसे अलग करती है वह सतत विकासशील है, स्थिर नहीं। बुद्धकी यह धारणा आधुनिक मनोविज्ञानके बहुत समीप है । प्रत्येक वस्तु अनेककी राशि होती है । कोई वस्तु 'एक' नहीं होती प्रत्युत जो 'एक' दिखाई देता है वह 'अनेक'का समूह हुआ करता है । इन पांचों स्कन्धोंके अतिरिक्त और कोई सत् पदार्थ नहीं है । इन्द्रियोंके अनुभवसे बाहर किसी भी वस्तुका अस्तित्व नहीं है । रूप स्कन्ध वाह्य जगत् और शेष चारों स्कन्ध अन्तर्जगत्‌के द्योतक हैं । इस प्रकार वाह्य और आन्तरिक जगत्‌की व्याख्या एक ही प्रकारसे की गई है । जो सिद्धान्त वाह्य जगत्‌में है वही अन्तर्जगत्‌में है ।

संघात सदा परिवर्तित होता रहता है, इसलिए भौतिक जगत् और जीव दोनों ही संतान (परिवर्तनशील) हैं । परिवर्तनके अविच्छिन्न प्रवाह-के पीछे ईश्वर जैसी किसी भी विकारहीन और परिवर्तित न होनेवाली वस्तुका होना असंगत है । यदि प्रत्येक वस्तु संतान है तो हम किसी वस्तु-को 'वही' कैसे देखते हैं ? वास्तवमें दो क्षणोंमें वस्तु केवल एक सी ही रहती है । वह हमें वस्तुतः 'वैसी ही' दिखाई देती है, 'वही' नहीं । यदि जीव भी संतान है तो स्मृति और प्रत्यभिज्ञा (पहचानना) कैसे सम्भव हो सकती है ? इसका उत्तर यह है कि जीव संघातात्मक होनेके साथ साथ प्रत्यभिज्ञात्मक शक्ति भी रखता है । प्रत्येक मानसिक अवस्था दूसरी मानसिक अवस्थासे चार प्रकारसे सम्बन्ध (पच्चय) रखती है : अनन्तर, समनन्तर, नत्थि (अनुपस्थिति) और अविगत । प्रत्येक विनष्ट

मानसिक अवस्था दूसरी मानसिक अवस्थाके लिए उपकार होती है अर्थात् विनष्ट मानसिक अवस्था दूसरी मानसिक अवस्थाको अपनी सम्पूर्ण पच्चय-शक्ति दे देती है जो अनुकूल दशा पाकर व्यक्त होती है।[1] जीवमें प्रत्य-भिज्ञात्मक शक्ति होनेका यही कारण है।

परिवर्तनमें भी एक प्रकारकी विकासशील एकता विद्यमान रहती है। इसे दीपककी लौसे समझाया गया है। दीपकके जलते रहने तक उसकी लौ एक-सी मालूम होती है यद्यपि वह प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है।[2] यही जीवके अनुभवके साथ भी है। जगत्की प्रत्येक वस्तु वीथी है और स्थिरताकी धारणा गलत है। सत्य 'है' या 'नहीं है', न होकर 'होते रहना' है।[3] बुद्धने सत्यकी गतिशील व्याख्या की है। परि-वर्तन तो लगातार होता रहता है किन्तु परिवर्तित कुछ भी नहीं होता। जिसे हम जगत् कहते हैं वह जगत्-व्यापार है और व्यापारको ही वस्तु कहा जाता है। जगत्के इस व्यापारका संचालन न तो ईश्वर द्वारा होता है और न ही संयोगवश। जगत्-व्यापार 'आवश्यकतावश' होता रहता है। जगत्-व्यापारके पीछे किसी कर्त्ताको न मानना बुद्ध-विचारधाराकी मुख्यता है।

प्रत्येक वस्तु अपने कारणसे उत्पन्न होती है। कार्य न तो कारणसे अन्य होता है और न ही अनन्य। बीजसे अंकुर उत्पन्न होता है पर बीज अंकुर नहीं होता और दूसरी ओर अंकुर भी बीजसे कोई बिल्कुल अलग वस्तु नहीं होता। अतः बीज नित्य या स्थिर नहीं है क्योंकि वह अंकुरके रूपमें परिवर्तित हो जाता है। बीज नष्ट भी नहीं होता क्योंकि अंकुरमें

---

१ दे०, आंग का अनिरुद्ध के अभिधम्म-संगह का परिचयात्मक निबन्ध।

२ दे०, मिलिन्दप्रश्न।

३ दे०, संयुत्त निकाय।

बीजका ही रूपान्तर होता है।[1] यदि कार्यको कारणसे अन्य मानें तो कार्य होनेके बाद कारणका उच्छेद या विनाश मानना पड़ता है; यदि कार्यको कारणरूप ही मानें तो वह नित्य या शाश्वत हो जाता है और चूंकि यह दोनों बातें नहीं होती हैं इसलिए न कोई नित्य है और न किसी-का उच्छेद या विनाश ही होता है। बुद्धकी यह धारणा सकारणता और परिवर्तनके नियमके आधारपर विकसित हुई है। यह धारणा विचार-धाराके क्षेत्रमें सर्वथा नवीन है। इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं। प्रतीत्य-समुत्पादका अर्थ है कारणके होनेसे उत्पत्ति होना (समुत्पाद = उत्पत्ति; प्रतीत्य = कारणके होनेसे)। जगत्में सब कुछ अशाश्वत और अनुच्छिन्न है। इस अस्थिर किन्तु नष्ट न होनेवाली वस्तुको विज्ञान कहते हैं। एक विज्ञानके बाद दूसरा विज्ञान आता रहता है। विज्ञानोंके इस प्रवाहको विज्ञान-संतान कहते हैं। विज्ञान-संतानके अतिरिक्त आत्मा नामकी कोई वस्तु नहीं है।

प्रतीत्यसमुत्पादके सिद्धान्तके अनुसार जगत्-व्यापारका आवश्यक प्रवाह तभी तक पराश्रित रहता है जब तक कुछ शर्तोंके पूरा होने तक कोई वीथी प्रारम्भ नहीं होती। कारणका विश्लेषण करके कार्यको स्थिर करके वीथीको रोका जा सकता है। 'उसके न होनेसे यह नहीं होता, उसके रुक जानेसे यह रुक जाता है[2]।' यह स्वभाववाद नहीं है। व्यावहारिकता की दृष्टिसे स्वभाववाद और बुद्धकी इस धारणामें बड़ा अन्तर है। स्वभाव-वादके अनुसार जो कुछ होनेको है वह होकर ही रहेगा। मनुष्यका उसमें कोई वश नहीं चल सकता। किन्तु बुद्धने मनुष्यके प्रयत्नोंका आदर किया है क्योंकि मनुष्य यदि चाहे तो वीथीके प्रारम्भ होनेपर भी उसे

---

१ **बीजस्य सतो यथांकुरो न च यो बीज स चैव अंकुरो।**
न च अन्यु ततो न चैव तदेवमनुच्छेद अशाश्वत धर्मता।
(ललितविस्तर)

२ **दे०, मज्झिमनिकाय।**

रोक सकता है। इसके लिए उसे केवल वीथीका कारण जान लेनेकी आवश्यकता पड़ती है।

हमने देखा है कि किसी वस्तुका विनाश नहीं होता। क्षणभंगुरताका अर्थ हम पूर्ण विनाश समझते हैं। विनाश देखकर हम दुःखी होते हैं। क्षणभंगुरताका गलत अर्थ ही हमें भ्रान्त बनाकर दुःखोंमें डाल देता है। यदि हम क्षणभंगुरताका ठीक अर्थ, कि किसी वस्तुका विनाश न होकर रूप परिवर्तन ही होता है, समझ लें तो हम दुःखोंसे एक सीमा तक बच सकते हैं। हमने देखा है कि कोई वस्तु नित्य भी नहीं है। अनित्यमें नित्य का भ्रम रखना अविद्या है। अविद्याकी उत्पत्ति जीवको नित्य माननेसे होती है। अविद्यासे जीवनका सच्चा ज्ञान नहीं होता और इसी कारण दुःख उत्पन्न होते हैं। यहां अविद्याका अर्थ जगत्की एकताका अज्ञान न होकर जीवके अस्तित्वका धोखा है। हम उस वस्तुको सत्य समझ बैठते हैं जो सत्य नहीं है। एक जीवका अस्तित्व दूसरे जीवोंके अस्तित्वमें विश्वास दिलाता है। इस प्रकार हम अपनेको जगत्से भिन्न समझते हैं। हम अपने लाभके लिए दूसरोंकी उपेक्षा करने लगते हैं। इससे संकीर्ण प्रेम, घृणा, राग, द्वेष आदि उत्पन्न होकर हमें दुःखकी जंजीरोंमें जकड़ देते हैं।

जीवकी नित्यताका भ्रम (सत्कायदृष्टि) अविद्याको जन्म देता है। अविद्यासे संस्कार उत्पन्न होते हैं। संस्कार शब्द जिस धातुसे निकला है उसका अर्थ है 'तैयार करना'। हम जो कुछ सोचते हैं, जो कुछ चाहते हैं वही हमारे संस्कार हैं। हमारे विचार और हमारी इच्छाएँ हमें आगेके लिए तैयार करते हैं। संस्कारोंसे विज्ञान और विज्ञानसे नाम और रूप उत्पन्न होते हैं। यदि विज्ञान न हो तो नाम और रूप भी नहीं हो सकते। मृत्यु होनेपर शरीर और ज्ञानेन्द्रियां आदि तो मिट जाती हैं किन्तु विज्ञान प्राचीन और नवीनके बीच सम्बन्ध जोड़नेके लिए कड़ीकी भांति रह जाता है। विज्ञानकी प्रेरणासे ही प्राचीन नवीनको उत्पन्न करता है। यदि विज्ञानको नाम और रूपका आश्रय न मिल पाए तो नवीनोत्पत्ति नहीं हो

सकती।[१] नामरूपसे स्पर्श (इन्द्रियोंका जगत्से सम्पर्क) और स्पर्शसे वेदना (जगत्के अनुभवों) का आविर्भाव होता है। वेदनासे तृष्णा होती है। तृष्णासे हमारे दुःख बरसाती घास फूसकी भांति बढ़ते हैं।[२] तृष्णासे उपादान (आसक्ति या मोह) उत्पन्न होता है। उपादानसे भव उत्पन्न होता है। भव वह कर्म हैं जो जन्मका कारण होते हैं। भवसे जाति (या जन्म) और जातिसे जरामरण होते हैं। दुःखोंकी उत्पत्तिके ये बारह निदान (कड़ियां) हैं। कारणको रोक देनेसे कार्य नहीं होता। जब सच्चे ज्ञानसे अविद्याका नाश हो जाता है तब इन निदानोंका भी एकके बाद एक स्वयं लोप हो जाता है। दुःख, दुःखोंकी उत्पत्ति (समुदय), उनको दूर करना (निरोध) और उनको दूर करनेके उपाय (मार्ग) ये चार आर्य सत्त्व कहलाते हैं।

दुःखोंको मिटानेका उपाय आत्मसंयम है। यज्ञादि क्रियाओंसे, देवताओं की स्तुति और उनको प्रसन्न करनेके लिए बलि आदि देनेसे दुःख दूर नहीं होते। दुःख केवल आत्मसंयमसे ही दूर हो सकते हैं। आत्मसंयमके आठ अंग हैं : सच्ची आस्था, दृढ़ संकल्प, निश्छल वाणी, पवित्र कर्म, निर्दोष जीवन, उचित प्रयत्न, शुभ विचार और निर्लिप्त साधना।

सच्ची आस्थाके लिए हमें धर्मग्रन्थों या गुरुजनोंकी बताई हुई बातोंपर तब तक विश्वास नहीं करना चाहिए जब तक हम स्वयं अपनी बुद्धि द्वारा उनपर विचार न कर लें।[३] पवित्र कर्मोंके लिए गंगा नहानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। पापीको गंगाका जल पवित्र नहीं कर सकता।[४] मनकी पवित्रता ही यथार्थ पवित्रता है। क्रियाओं और इन्द्रियोंके सम्बन्ध-

---

१ दे०, महापदानसुत्त और संयुत्तनिकाय।

२ दे०, धम्मपद।

३ दे०, अंगुत्तरनिकाय।

४ दे०, वत्थसुत्तन्त, मज्झिमनिकाय।

में समता रखना ही श्रेयस्कर है।[1] बुद्धने अन्त समय तक कहा कि सबको अपना उद्धार स्वयं ही करना पड़ेगा।[2] इसमें कोई और व्यक्ति सहायता नहीं दे सकता। काषाय वस्त्र पहननेसे संयम नहीं आता।[3] गोत्र या जन्मसे कोई ब्राह्मण नहीं होता। जिसमें सत्य और धर्म है, जो मन, वचन और वाणीसे पाप नहीं करता वही ब्राह्मण है।[4]

आत्मसंयमसे निर्वाण प्राप्त होता है। शून्यताके ध्यान और ज्ञेयरहित ज्ञानके द्वारा साधक एक ऐसे क्षेत्रमें प्रवेश करता है जहां न तो चेतनता होती है और न ही अचेतनता। तव उसको वेदना, संज्ञा आदिकी पूर्ण अनुपस्थितिका बोध होता है। वेदना संज्ञा आदिके न रहनेसे तृष्णा, भेद, भाव, राग, द्वेष आदि भी नहीं रहते जिससे विज्ञान-संतानका प्रवाह दोषरहित हो जाता है। विज्ञान-संतानके प्रवाहका निर्दोष हो जाना ही निर्वाण है।[5] निर्वाण दो प्रकारका होता है: उपाधिशेष और अनुपाधि-शेष। उपाधिशेष निर्वाणमें पांचों स्कन्ध विद्यमान रहते हैं किन्तु अविद्या नष्ट हो जाती है। अनुपाधिशेष निर्वाणमें स्कन्ध भी नहीं रहते।

जीवकी स्थिरताको न माननेसे आवागमनका सिद्धान्त बुद्धकी शिक्षाओंके प्रतिकूल पड़ता है। किन्तु ऐसा है नहीं। यदि कर्त्ताके बिना कर्म हो सकता है तो आवागमनकी क्रिया भी आवागमनके कर्त्ताके बिना हो सकती है। बुद्धके मतसे आवागमन जीवनके अन्तमें न होकर प्रतिपल होता रहता है। इससे पता चलता है कि बुद्ध जीवके आवागमनको न मानकर चरित्र-के आवागमनको मानते थे। वह कर्मको कोई बाहरी प्रभाव नहीं समझते थे। हमारी क्रियाएँ ही कर्मका ताना बाना बुनती हैं। अतीतसे वर्तमान

---

१ दे०, चर्म स्कन्धह, विनयपिटक।

२ दे०, महापरिनिब्बानसुत्त।

३ दे०, धम्मपद।

४ दे०, ककचूपमसुत्तन्त, मज्झिमनिकाय।

५ दे०, सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह।

प्रसूत होता है और वर्तमानसे भविष्य। भविष्य मनुष्यके अपने हाथकी वस्तु है। वह चाहे तो अपने वर्तमान कर्मोंसे भविष्यको बदल सकता है। ईश्वरकी शरणमें जाकर उसकी कृपाके मोहताज बननेसे कुछ नहीं होता। बुद्धने व्यक्तिकी अपनी संस्कृतिको बहुत प्रधानता दी।

बुद्धने संसारके दुःखोंसे बच सकनेके प्रयत्नोंकी खोज की। कुछ विद्वान् बौद्धविचारधाराको निराशावादी कहते हैं। यह तो रोगके उपचार करनेवालेको ही रोगी कहना हुआ। बुद्धने अपने प्रयत्नसे अपने हृदयकी वासनाओंपर विजय प्राप्त करके सत्यका साक्षात्कार किया था। उन्होंने सदा आत्मनिर्भरताकी शिक्षा दी। 'आप ही अपना प्रकाश बनो; आप ही अपना आश्रय लो, किसी अन्यका आश्रय मत ढूँढ़ो।'[१] बुद्धके ढाई हजार वर्ष पहलेके यह वाक्य हमारे आजके वैयक्तिक युगमें कितने आधुनिक हैं। और विचारधाराके क्षेत्रमें जो कुछ आधुनिकता रखता है वही कल्याणकारी होता है, शेष सब पतनकी ओर ले जाता है।

बुद्धने अपनेको कभी भी ईश्वरका अवतार या पैगम्बर नहीं कहा, अपनी शिक्षाओंके लिए कभी भी ईश्वरकी मध्यस्थता स्वीकार नहीं की, मनुष्यताको विकसित करनेके लिए किसी पारलौकिक अस्तित्वका आश्रय नहीं ढूँढ़ा; विलक्षण रही होगी ऐसे व्यक्तिकी प्रतिभा। उन्होंने अपने अनुयायियोंको कभी भी स्वर्गकी अप्सराओंका प्रलोभन नहीं दिया, आचरण सुधारनेके लिए ईश्वररूपी लड्डूका लालच नहीं दिया; अद्भुत रही होगी ऐसे व्यक्तिकी निर्लोभिता। दुःखोंसे आर्त होकर लोकका शोक मिटानेके लिए ओककी रोक टोकसे न रुक उन्होंने राजसी वैभव तो क्या अपनी प्रिय पत्नी और नवजात पुत्र तकका त्याग कर डाला था; सार्वभौमिक रही होगी ऐसे व्यक्तिकी संवेदना।

---

१ दे०, धम्मपद।

बौद्ध विचारधाराके सम्प्रदाय

अपने समयके विचारोंको एकताके सूत्रमें बांध रखनेवाले व्यक्तिके अवसानके बाद लोग उसके व्यक्तित्व और विचारोंको अपनी अपनी दृष्टिके अनुसार समझनेका प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं जो आगे चलकर किसी न किसी संप्रदायका रूप धारण कर लेते हैं। बुद्धके पश्चात् उनकी शिक्षाओंकी अनेक व्याख्याएँ की गईं और अट्ठारह संप्रदायों[1]का उदय हुआ। किन्तु उनमेंसे दो संप्रदाय ही अधिक महत्त्वके हैं: हीनयान और महायान।

हीनयान संप्रदाय

यान शब्दका अर्थ है 'मार्ग'।' हीनयान संप्रदाय व्यक्तिको अधिक प्रधानता देता है। अपनी इसी संकुचित दृष्टिके कारण इसका नाम हीनयान पड़ा। हीनयानके अनुसार व्यक्तिका अपनेको मुक्त कर लेना ही सबसे बड़ा काम है। हीनयान संप्रदायको थेरवाद या स्थविरवाद अथवा वृद्धोंका सम्प्रदाय भी कहते हैं। हीनयान वाह्य वस्तुओंकी सत्ताको मानता है इसलिए इसे सर्वास्तित्ववाद भी कहा जाता है। इसके अंतर्गत दो प्रमुख शाखाएँ हैं: वैभाषिक और सौत्रान्तिक।

(क) वैभाषिक

वैभाषिक शब्दका अर्थ है 'विशिष्ट भाष्य।' विभाषा त्रिपिटकका टीका ग्रन्थ है और चीनी भाषामें सुरक्षित है। विभाषाके आधारपर

---

१ महासंघिक, लोकोत्तरवादी, एकव्यवहारिक, कुक्कुलिक, बहुश्रुतीय, प्रज्ञप्तिवादी, चैत्तिक, अपरशैल, उत्तरशैल, हैमवत, धर्मगुप्तिक, महीशासक, काश्यपीय, वात्सीपुत्तरीय इत्यादि। वसुमित्रने इनमेंसे कुछ संप्रदायोंका जो विवरण दिया है वह विशेष महत्त्वका नहीं है।

१३५ संवत्के लगभग विकसित होनके कारण ही इस शाखाका नाम वैभाषिक पड़ा। इसके प्रवर्तक धर्मकीर्ति और दिन्नाग हैं।

वैभाषिक वाह्य जगत्की सत्ताको मानता है। वाह्य जगत्की सत्ताका ज्ञान प्रत्यक्षसे होता है। हम मनुष्यता, पशुता आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं। 'मनुष्यता' मनुष्योंमें रहनेवाला वह गुण है जिससे मनुष्य 'मनुष्य' कहलाता है। 'पशुता' पशुओंकी जातिको वतानेवाला गुण है। मनुष्यता, पशुता आदि शब्दोंसे जाति विशेषका पता चलता है। जातिको सामान्य लक्षण भी कहते हैं। सर्वास्तित्ववादी सामान्य लक्षणोंकी सत्ताको नहीं मानते। हमने मनुष्य देखे हैं, पशु देखे हैं, किन्तु 'मनुष्यता' या 'पशुता'को कभी नहीं देखा। हरेक वस्तुका अपना अलग अलग गुण होता है जिसे उस वस्तुका 'स्वलक्षण' कहते हैं। प्रत्येक स्वलक्षण अनन्वय होता है। सामान्य गुण कहीं नहीं पाए जाते। वे केवल कल्पना मात्र हैं। जगत्की सारी वस्तुएँ स्वलक्षण हैं। स्वलक्षणोंकी सत्ता निरपेक्ष है। कर्म, नाम, द्रव्य आदि बुद्धिकी धारणाएँ मात्र ही हैं। वाह्य जगत्में उनकी कोई सत्ता नहीं है।

जगत् स्वलक्षणोंके समूहसे बना है। स्वलक्षणोंकी संख्या अपरिमित है। स्पष्ट है कि वैभाषिक यथार्थवादी और अनेकवादी हैं। स्वलक्षणों-का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है। प्रत्यक्ष सदैव कल्पना द्वारा होता है। कल्पनाओंको पांच भागोंमें विभाजित किया गया है : जाति, गुण, कर्म, नाम और द्रव्य। 'यह नीला है' इस वाक्यमें नीला रंग अभी असम्बद्धित है और प्रत्यक्षकी प्रारम्भिक अवस्था है जिसे निर्विकल्पक कहा जाता है। प्रत्यक्षकी निर्विकल्पक अवस्थामें मस्तिष्क क्रियारहित रहता है किन्तु सविकल्पक प्रत्यक्षकी अवस्थामें वह क्रियाशील हो जाता है और स्वलक्षणों को बुद्धिके सहारे समझता है। तब बुद्धिजनित कल्पनाएँ स्वलक्षणपर सामान्य लक्षण (यहां नीलेपन)का आरोप करती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष होता है। वैभाषिकके अनुसार 'नीलापन' असत्य है। किन्तु

'नीलेपन'को बिल्कुल असत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'नीलेपन'में स्वलक्षण (अर्थात् नीले रंग)की सत्यता निहित रहती है।

हरेक वस्तु 'अनेक'की राशि है। उसमें 'एक'की जो प्रतीति होती है वह व्यावहारिकताकी दृष्टिसे तो ठीक है किन्तु परम दृष्टिसे असत्य है। हरेक पदार्थ अपने अवयवोंका स्कन्ध होता है। वैभाषिक अवयवों-के स्कन्धको ही पदार्थ मानते हैं। यहां उनका नैयायिकोंसे मतभेद है। नैयायिक पदार्थको अवयवोंका स्कन्ध न मानकर अवयवोंसे अतिरिक्त अवयवीकी स्थापना करते हैं यद्यपि अवयवीकी सत्ता असिद्ध है। 'एक' की प्रतीति मात्रसे अवयवीकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि 'एक' अपने आपमें ही सिद्ध नहीं है। वैभाषिक अवयवके लिए परमाणु शब्दका प्रयोग करते हैं। स्थूल पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म अवयव परमाणु है। परमाणुओंका स्कन्ध ही पदार्थ है। वैभाषिकके दृष्टिकोणको परमाणुवादी भी कहा जा सकता है।

जगत्के सारे पदार्थ या तो भूत और भौतिक (भूतोंसे निर्मित) हैं अथवा चित्त या चैत्त (चित्तके विकार, जैसे दुःख, मोह आदि)। विज्ञान स्कन्धको चित्त कहा जाता है। शेष चारों स्कन्ध—वेदना, संज्ञा, रूप, संस्कार—चैत्त अर्थात् चित्तके विकार माने गए हैं। रूप स्कन्ध भौतिक है, फिर उसे चैत्त कैसे माना जा सकता है? इसे समझनेमें कठिनाई होती है। इसका समाधान यों किया गया है कि चूंकि इन्द्रियां पुद्गलसे बनती हैं इसलिए पुद्गलको ज्ञाताके अनुरूप माना जा सकता है।

(ख) सौत्रान्तिक

सूत्रान्त या बुद्धके वचनोंके आधारपर विकसित होनेसे इस शाखाका नाम सौत्रान्तिक पड़ा। इसका प्रवर्तक कुमारलब्ध (२५६ संवत्) हैं।

सौत्रान्तिक भी वाह्य जगत्की सत्ताको मानता है। लेकिन वाह्य जगत्की सत्ताका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है—इसे वह नहीं मानता। चार्वाक ने केवल प्रत्यक्षको ही प्रमाण माना था। बौद्ध प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनु-

मानको भी प्रमाण मानते हैं। संदेह करना एक सीमा तक ही ठीक है। यदि संदेह अनुभवके विरुद्ध जाने लगे तो उसे छोड़ देना चाहिए—**'व्याघाता-वधिराशंका'**। अनुमानमें संदेह करना अनुभवके विरुद्ध है। अनुमान व्याप्तिपर निर्भर होता है। धुआं आगसे अलग कभी नहीं देखा गया है। धुएँ और आगमें व्याप्य-व्यापक भाव है। व्याप्य-व्यापक भावके द्वारा प्राप्त ज्ञानको व्याप्ति ज्ञान कहते हैं। व्याप्ति दो जगह होती है। एक तो तदुत्पत्ति संबंधमें, अर्थात् कारण और कार्यके सम्बन्धमें; दूसरे तादात्म्य सम्बन्धमें, अर्थात् जाति और व्यक्तिके नित्य सम्बन्धमें। कोई पशु घोड़ा न हो यह तो सम्भव है, किन्तु प्रत्येक घोड़ा पशु जातिके अंतर्गत ही होगा।

क्षणिकवादके सिद्धान्तके अनुसार जिस समय वस्तुओंका प्रत्यक्ष होता है उस समय वे विद्यमान नहीं रह सकतीं। यदि वस्तुएँ वस्तुतः क्षणिक हैं तो केवल बीती वस्तुका ही ज्ञान हो सकता है। प्रत्यक्ष द्वारा जो कुछ जाना जाता है वह विद्यमान तो रहता है किन्तु उसके विद्यमान रहनेके समय उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्यक्षके समय वाह्य वस्तुओं-का प्रवाह ही सम्मुख होता है और उसके आकारके आधारपर ही उससे पहलेकी वस्तुका अनुमान किया जाता है। प्रत्यक्ष वास्तवमें अनुमान द्वारा होता है और बीती वस्तुका ही होता है। इस प्रकार स्वलक्षणोंका ज्ञान प्रत्यक्षसे न होकर अनुमान द्वारा ही हो सकता है।

वैभाषिकने सौत्रान्तिकके इस मतका कि वाह्य वस्तुओंकी उपस्थिति अनुमान द्वारा जानी जाती है खण्डन किया है। वह सौत्रान्तिकके इस मतको अनुभवके विरुद्ध बतलाता है। अनुमान व्याप्तिके आधारपर किया जाता है। व्याप्ति अनुभव और अवेक्षण (देखने) पर निर्भर है इसलिए अवेक्षणको अनुमान नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्षकी क्रिया और वस्तुकी उपस्थितिका समय एक ही होता है।

सौत्रान्तिक स्वलक्षणोंको अनुभवकी व्याख्या करनेके लिए केवल एक मान्यताकी भांति लेता है। विज्ञानोंके अनुभवके साथ 'वाह्यता'का

अनुभव भी होता है। हम जिस वस्तुका प्रत्यक्ष करते हैं उस वस्तुका अनुभव यदि हमारे विज्ञानका ही विकार होता तो उस वस्तुके अनुभवके साथ उस वस्तुकी 'वाह्यता'का अनुभव कैसे हो सकता है? वाह्यता विज्ञानोंमें न मानकर वस्तुओंमें ही माननी पड़ती है, और इस प्रकार वाह्य जगत्की स्वतन्त्र सत्ताको भी मानना पड़ता है। शेष सब बातोंमें सौत्रान्तिकका मत वैभाषिकके समान ही है।

× × ×

सर्वास्तित्ववादी पांच स्कन्धोंके अतिरिक्त और किसी वस्तुको सत् नहीं मानते। पांचों स्कन्ध सत् तो हैं किन्तु वे प्रतीत्यसमुत्पादके सिद्धान्तके अनुसार परिवर्तनशील होनेसे क्षणिक हैं। बौद्ध सत्पदार्थ उसे मानते हैं जिसमें अर्थक्रियाकारित्व अर्थात् कुछ करनेकी क्षमता हो। असत्पदार्थ वह है जो कुछ नहीं करता। सत्पदार्थ प्रतिपल उत्पत्ति करता रहता है। सत्पदार्थका यह लक्षण ही क्षणिकवाद है। जो सत् है वह क्षणिक है— **'यत्सत् तत्क्षणिकम्'**। बौद्ध परिवर्तनको सम्पूर्ण और अविच्छिन्न मानते हैं। बीज वृक्षका कारण है किन्तु सम्पूर्ण परिवर्तन होनेसे बीजका कार्य पूरा होनेके बाद उसका निरन्वयनाश हो जाता है। परिवर्तनमें अविच्छिन्नताका अर्थ यह है कि बीजमें वृक्ष उत्पन्न करनेकी क्षमताको तुरन्त कार्य करना चाहिए। तुरन्त उत्पादन करनेके अतिरिक्त उत्पादन करनेकी क्षमताका कोई अर्थ नहीं है।

साधारणतः बौद्धोंने वीथीका अन्त नहीं माना है। किन्तु वे इसके एक दो अपवाद मानते हैं। मृत्युके बाद जब अर्हत निर्वाण प्राप्त करता है तब वीथी रुक जाती है। विज्ञानवीथीके रुक जानेको प्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं। प्रतिसंख्या शब्दका अर्थ विज्ञानवीथीको रोक देनेवाला ज्ञान या बोध है। गहरी नींद आदिमें विज्ञानवीथीके रुक जानेको अप्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं। हीनयान प्रतिसंख्यानिरोधको ही जीवनका लक्ष्य मानता है।

प्रतिसंख्यानिरोधकी आलोचना भी की गई है। विज्ञानवीथीके रुक जानेका अर्थ है कि उसकी अन्तिम कड़ी कुछ और उत्पत्ति नहीं करती। यह अर्थक्रियाकारित्वके विरुद्ध है, इसलिए विज्ञानवीथीकी अन्तिम कड़ी असत्य हो जाती है। अन्तिम कड़ीकी असत्यता उससे पहलेकी कड़ियोंकी असत्यता साबित करती है। इस प्रकार पूरी वीथी ही असत्य हो जाती है। फिर या तो विज्ञानवीथी असत्य है या उसका रुक जाना निर्वाण नहीं है।

महायान संप्रदाय

महायान संप्रदायका उदय हीनयान संप्रदायके विरुद्ध प्रतिक्रियासे हुआ। महायानने हीनयानके अर्हतके स्थानपर बोधिसत्त्वका आदर्श स्थापित किया। बोधिसत्त्व आदर्शके अनुसार जीवनका लक्ष्य अपने आपको मुक्त कर लेना ही नहीं है वरन् अपनी मुक्तिके बाद दूसरोंकी मुक्तिके लिए भी सतत उपाय करते रहना है। हीनयानकी दृष्टि व्यक्ति तक ही सीमित थी। महायानने उसको सार्वभौमिक रूप दे दिया। हीनयानकी निवृत्तिके स्थानपर महायानने प्रवृत्तिको अपनाया। हीनयानके मतसे 'विनय'के अनुसार आचरण बनानेसे ही मनुष्य 'बुद्ध' हो सकता है। महायानका विश्वास है कि 'बुद्ध' मनुष्यका जन्मजात गुण है। यदि उसका उचित विकास किया जाय तो प्रत्येक मनुष्य 'तथागत'की श्रेणीको प्राप्त कर सकता है। अपने इन्हीं उदार विचारोंके कारण महायान अपने नामको सार्थक कर अत्यन्त विख्यात हो सका। महायान वाह्य वस्तुओंकी सत्तामें विश्वास नहीं करता। महायानके अंतर्गत भी दो शाखाएँ हैं: माध्यमिक और योगाचार।

(ग) माध्यमिक

इस शाखाका प्रवर्तक नागार्जुन है। नागार्जुनका समय २०० संवत् के लगभग है। मध्य मार्गका अनुसरण करनेके कारण ही इस शाखाका नाम माध्यमिक पड़ा।

सर्वास्तित्ववादियोंने वाह्य वस्तुओंकी निरपेक्ष सत्तामें विश्वास किया था। माध्यमिकके मतसे सत्ताविषयक सभी धारणाएँ विरोधाभासोंसे भरी होनेके कारण असंगत हैं। अपने ग्रन्थ मूलमाध्यमिककारिकामें नागार्जुनने विविध धारणाओंका विश्लेषण करके उन्हें असंगत बताया है।

प्रतीत्यसमुत्पादके आधारपर बौद्ध उत्पत्तिमें विश्वास रखते हैं। नागार्जुनने उत्पत्तिकी धारणाको असंगत बताया है। यदि भावपदार्थ अपनेसे उत्पन्न होते हैं तो उत्पत्तिका कोई अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार कोई नवीन वस्तु उत्पन्न न हो सकेगी। जो पदार्थ पहलेसे ही हैं उनकी उत्पत्तिका प्रयोजन ही क्या हो सकता है? यदि भावपदार्थ अपनेसे भिन्न पदार्थोंको उत्पन्न करते हैं तो ऐसी दशामें किसी वस्तुसे कोई भी वस्तु उत्पन्न हो सकती है। भावपदार्थोंकी उत्पत्तिको अकारण बतलाना भी असंगत है। यदि पदार्थ विना किसी कारणके उत्पन्न हो सकते तो सब जगह सब पदार्थोंकी उत्पत्ति संभव होती।[१] इससे स्पष्ट है कि भावपदार्थोंकी उत्पत्ति समझमें नहीं आती। इसी तरह कारण-कार्य, स्थिति, गति आदिका विश्लेषण करके उनको भी असंगत बताया गया है।

सर्वास्तित्ववादी पांचों स्कन्धोंकी सत्ताको निरपेक्ष मानते थे। माध्यमिकके अनुसार उनकी सत्ता सापेक्ष है। कर्म करनेवालेके बिना नहीं हो सकता। कर्मके साथ उसका करनेवाला भी होना चाहिए। कर्म और उसका कर्त्ता दोनों अपनी अपनी सिद्धिके लिए एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं।[२] सत्ताकी सिद्धि सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। अशाश्वतता और परिवर्तनशीलतामें जिस सत्ताकी प्रतीति होती है वह भी निरपेक्ष नहीं है क्योंकि कार्यकी सत्ता कारणकी सत्ताकी अपेक्षा रखती है। चन्द्रकीर्तिने इसीलिए नागार्जुनकी कारिकाओंपर टीका करते हुए प्रतीत्यसमुत्पादका

१ दे०, नागार्जुनकी पहली कारिका पर बुद्धपालितका भाष्य।

२ दे०, माध्यमिककारिका, ८, १२–१३.

अर्थ किया है **'हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पादः'**। प्रतीत्यसमुत्पाद केवल सकारणता और परिवर्तनका ही सिद्धान्त नहीं है, वह सत्ताकी सापेक्ष सिद्धि मानकर निरपेक्ष सत्ताका खण्डन भी करता है।

प्रतीत्यसमुत्पादके अनुसार न तो कोई वस्तु शाश्वत है और न ही किसी वस्तुका उच्छेद होता है। परिवर्तनकी आड़में नित्यता या अनित्यता देखना दोनों ही गलत हैं। नित्यता देखनेका अर्थ है वस्तुओंको शाश्वत मानना और अनित्यता देखनेका अर्थ है उनका विनाश मानना। यह एकान्तवाद है और प्रतीत्यसमुत्पादकी सार्थकता नित्य-एकान्तवाद या अनित्य-एकान्तवाद माननेमें नहीं है।[१] निरपेक्षतः न तो सत्ता है और न अभाव[२], प्रत्युत कर्मके लिए जिस प्रकार कर्त्ताकी अपेक्षा है उसी प्रकार कर्त्ताको कर्मकी अपेक्षा है। दोनोंकी सत्ता उनकी सापेक्षतापर ही निर्भर करती है। यह सापेक्षता, सकारणता और परिवर्तनका नियम ही नागार्जुनके मतसे प्रतीत्यसमुत्पाद है। और प्रतीत्यसमुत्पादको ही नागार्जुनने शून्यवाद कहा है—**यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे**।'[३]

माध्यमिकमें भ्रमकी व्याख्या असत्‌ख्यातिसे की जाती है। सीपमें चांदीका भ्रम होता है। जहां चांदी नहीं है वहां चांदी दिखाई पड़ती है। यही असत्‌ख्याति है। ख्याति शब्दका अर्थ है ज्ञान। जगत्‌की ख्याति (ज्ञान) भी असत् है। ज्ञानका महत्त्व इसीमें है कि वह हमें आकांक्षित वस्तुकी प्राप्ति (प्रापकत्व) करा दे।

शून्यवादको बहुत गलत समझा गया है। हिन्दू आलोचकोंने शून्यका सीधा अर्थ 'अभाव' लेकर बड़ी भ्रान्ति फैलाई है। सत्यको बुद्धि द्वारा न समझ सकनेकी विवशता[४] और उसकी सापेक्ष सिद्धिको ही नागा-

---

१ दे०, वहीं, १५, १०.

२ दे०, ललितविस्तर, परि० २५.

३ तुलना कीजिए, शून्याः सर्वधर्माः निस्स्वभावयोगेन (प्रज्ञापारमिता)

४ दे० बोधिचर्यावतार, ९, २.

र्जुनने शून्यवाद नाम दिया है। सत्य वही है जिसका अपना स्वभाव हो, जो अकृतक और परत्रनिरपेक्ष हो।[1] कारण-कार्य, स्थिति, गति आदिको असंगत बतानेमें नागार्जुनका यह अभिप्राय नहीं था कि गति, स्थिति आदिका अनुभव ही नहीं होता। उनका अनुभव तो अवश्य होता है किन्तु उन्हें बुद्धि द्वारा नहीं समझा जा सकता। बुद्धिगम्य न होनेसे सत्ता अनिर्वचनीय है और जो अनिर्वचनीय है वह शून्य है।[2] बुद्धि हमें सत्यका सच्चा स्वरूप नहीं दिखला सकती। बुद्धिजनित धारणाएँ सत्य-को नहीं पकड़ सकतीं। सत्य बुद्धि-प्रवेश-वर्जित-प्रदेश है और यही शून्यवाद है।

(घ) योगाचार

इस शाखाके प्रवर्तक असंग और वसुबन्धु हैं। ये दोनों भाई थे। इनका समय ३५० संवत् बताया जाता है। यह शाखा यौगिक-क्रियाओंमें आस्था रखती है और मानती है कि बोधिकी प्राप्ति योगाभ्यास द्वारा ही हो सकती है। इसीलिए इसका नाम योगाचार पड़ा।

माध्यमिकने सत्ताको सापेक्ष बताकर शून्यवादकी स्थापना की थी। योगाचार वाह्य सत्ताको तो शून्य मानता है किन्तु योग-प्रक्रियाओंमें

१ दे०, माध्यमिकवृत्ति, पृ० ४०३.

२ विश्वके पीछे इसी अनिर्वचनीय तत्त्वको अश्वघोष ने 'भूततथता' कहा है। नागार्जुनके विपरीत अश्वघोषकी यह व्याख्या भावात्मक है। कहा जाता है कि नागार्जुन अश्वघोषका शिष्य था। अश्वघोष कनिष्कका समकालीन था। अश्वघोषने बुद्धचरित नामक काव्यग्रन्थ लिखा है जो बहुत उच्च कोटिका काव्य है। कविके साथ अश्वघोष गायक भी था। उसने रासतवर नामक एक वाद्य यंत्रका भी आविष्कार किया था जिसके द्वारा वह लोगोंको अपना अनुयायी बनाता था। इस यंत्रके स्वरोंमें ऐसी करुणा थी जो लोगोंको संसारके दुःखों, उसकी निस्सारता और नैरात्म्यताका बोध कराती थी।

आस्था रखनेके कारण विज्ञान (चित्त) की सत्ताको शून्य या सापेक्ष नहीं मानता।[१] योगाचार वाह्यजगत्‌की सत्ताको तो विज्ञानसापेक्ष मानता है किन्तु स्वयं विज्ञानोंको निरपेक्ष मानता है।

सौत्रान्तिकने वाह्य वस्तुओंका प्रत्यक्ष न मानकर केवल विज्ञानोंका ही प्रत्यक्ष माना था। योगाचारका मत है कि जब वाह्य जगत्‌का प्रत्यक्ष नहीं होता तो उसकी सत्ता मानना भी व्यर्थ है। योगाचारने स्वलक्षणोंका प्रत्यक्ष न होनेसे उनकी सत्तासे ही इनकार कर दिया। प्रत्यक्ष केवल विज्ञानोंका ही होता है इसलिए विज्ञान ही सत्य हैं। विज्ञानोंकी सत्यताको माननेसे योगाचारको विज्ञानवाद भी कहते हैं।

वाह्य जगत् विज्ञानोंका परिणाम है। विज्ञान परिणाममें कार्यकी उत्पत्ति कारणक्षणके निरोधके समय ही होती है और कारणक्षणसे विलक्षण भी होती है।[२] विज्ञप्ति मात्रता ही परम सत्य है। उसमें ग्राह्य-ग्राहक भेद नहीं होता। विज्ञप्ति मात्रताको आलयविज्ञान कहते हैं क्योंकि सारी वस्तुओंकी सत्ता उसीपर आश्रित है। विज्ञप्तिमात्रतामें एक शक्ति निहित रहती है जिसके सन्तानसे विज्ञप्तिमात्रतामें तीन तरहका परिणाम होता है: विपाक, मनन और विषयविज्ञप्ति। विपाक परिणाम अपरिच्छिन्न और आलम्बनाकार होते हैं और उनमें सुख-दुःख आदिकी अनुभूति नहीं होती। विपाक परिणाम मनस्‌की उस अवस्थाको बताते हैं जब उसमें विवेक और उसकी विभिन्न क्रियाएँ सुषुप्तावस्थामें पड़ी रहती हैं। मनन परिणाम सत्कायदृष्टि (नित्य दृष्टि)से युक्त होता है और उसमें मोह, राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते रहते हैं। विषयविज्ञप्ति

१ यो बालैरधर्माणां स्वभावो ग्राह्यग्राहकादिः परिकल्पितस्तेन कल्पितेनाऽत्मना तेषां नैरात्म्यं न त्वनभिलाप्येनात्मना यो बुद्धानां विषय इति (विंशिका पर टीका, पृ० ६)

२ कारणक्षणनिरोधसमकालः कारणक्षणविलक्षणकार्यस्य आत्मलाभः परिणामः (त्रिंशिका ५ स्थिरमतिका भाष्य, पृ० १६).

परिणाममें रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म (मानसिक विकार) की प्रतीति होती है।

माध्यमिक विज्ञप्तिमात्रताकी कड़ी आलोचना करते हैं। उनके मतसे स्वसंवित्ति (विज्ञप्तिमात्रता) हो ही नहीं सकती क्योंकि कोई चीज़ स्वयं अपने ऊपर क्रिया नहीं कर सकती। उँगली स्वयं अपनेको नहीं छू सकती; चाकू स्वयं अपनेको नहीं काट सकता। इसके उत्तरमें सौत्रा-न्तिकोंका कहना है कि ज्ञाता स्वयं ज्ञेय हो सकता है और स्वसंवित्ति संभव हो सकती है। यह ठीक है कि उँगली अपने आपको नहीं छू सकती, किन्तु दीपक दूसरी वस्तुओंके साथ साथ अपने आपको भी प्रकाशित करता है।[1]

सौत्रान्तिकने वाह्य सत्ताको विषयविज्ञप्ति (अर्थात् वाह्य वस्तुओं) की व्याख्या करनेके लिए माना था। योगाचार विषयविज्ञप्तिके लिए वाह्य सत्ताकी स्थापना करनेको अनावश्यक समझता है। यदि विज्ञान-मात्र ही सत्य हैं तो सब कुछ मस्तिष्कके अन्दर ही होना चाहिए। फिर वस्तुओंमें वाह्यता (बाहरपन)का जो अनुभव होता है वह कहांसे आता है? योगाचारके अनुसार वाह्यताका अनुभव भी द्रव्य, गुण आदिकी भांति बुद्धिकी कल्पनामात्र ही है। वाह्यता वस्तुओंमें नहीं होती, हमारी बुद्धि ही उनमें वाह्यताका आरोप करती है।[2] ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानमें ज्ञान ही सत्य है। ज्ञाता और ज्ञेयका भेद वाह्यताकी अपेक्षासे ही होता है। वाह्यता बुद्धिकी कल्पनामात्र है इसलिए ज्ञाता और ज्ञेयका भेद मृगमरीचिका है। 'मैं हूँ' इस ज्ञानमें ज्ञाता और ज्ञेय एक ही वस्तु हैं। इसी प्रकार सारे विज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ही हैं। ज्ञाताकी दृष्टिसे देखनेपर विज्ञान संतान 'आत्मा' प्रतीत होता है और ज्ञेयकी दृष्टिसे देखने-पर वस्तुओंका स्कन्ध। ज्ञाता और ज्ञेय दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। उनमें

---

१ दे०, बोधिचर्यावतार, ६, १५.

२ दे०, लंकावतारसूत्र, पृ०, ८५.

सहोपलम्भ नियम है। नीला रंग और नीले रंगका विज्ञान साथ साथ ही अवगत होते हैं। यदि उनमें भेद होता तो उनका अनुभव भी साथ साथ न ोकर अलग अलग ही होता। ज्ञाता और ज्ञेयका भेद भ्रम है।

यहां हमें भ्रम और कल्पनाका अर्थ समझ लेना चाहिए। भ्रमकी भांति कल्पना भी असत्य होती है, किन्तु प्रत्यक्षमें कल्पना सदा उपस्थित रहती है। कल्पना प्रत्यक्षकी शर्त है। भ्रम कभी कभी होता है और उसका आश्रय व्यक्ति विशेष ही होता है।

योगाचार भ्रमको आत्मख्याति कहता है। सीपमें चांदीका और रस्सीमें सांपका भ्रम क्यों होता है? योगाचारके अनुसार हमारे विज्ञान ही कल्पनाकी सहायतासे वाह्यता ग्रहण कर चांदी और सांपकी भांति दिखाई देने लगते हैं। आत्मख्यातिके आलोचकोंका आक्षेप है कि जिस वस्तुका भ्रम होता है उसके सत्यका अनुभव भी पहले कहीं न कहीं हो चुका होता है। जिस वस्तुका कभी अनुभव ही नहीं हुआ है उसका भ्रम भी नहीं हो सकता।

योगाचारने वाह्य सत्ताको अस्वीकार तो कर दिया किन्तु व्यावहारिकताके दृष्टिकोणसे वाह्य जगत्की सत्ताको मानना आवश्यक था। योगाचारने व्यावहारिकताके लिए वाह्य जगत्की सत्ताको माना तो, किंतु उसे 'उपचार' कहा। जो वस्तु जहां न हो उसका वहां आरोप कर देना 'उपचार' है। तिमिर रोगीके सामने केश, जाल इत्यादि नहीं होते फिर भी उसे उनकी प्रतीति होती है। इसी प्रकार वाह्य सत्ताके न होने पर भी रूप, शब्द आदिकी प्रतीति हुआ करती है।[१] वस्तुतः विज्ञानके अतिरिक्त और किसी वस्तुकी सत्ता नहीं है। हमारी बुद्धि वस्तुओंका

---

१ उपचारस्य च निराधारस्याऽसम्भवाद् अवश्यं विज्ञानपरिणामो वस्तुतोऽस्तु उपगन्तव्यो यत्र आत्मधर्मोपचारः प्रवर्तते। न हि निरास्पदा मृगतृष्णिकादयः। (तुलना कीजिए, गौड़पादकारिकाओं पर शंकरभाष्य)

साक्षात् नहीं करती प्रत्युत वह उनकी रचना करती है। विज्ञानवीथीकी संख्या अपरिमित माननेसे योगाचार ज्ञातावादी होते हुए भी अनेकवादी हैं।

रूपादि पदार्थ जहां और जिस समय होते हैं वहीं और उसी समय उनका अनुभव भी होता है। आक्षेप उठता है कि यदि रूपादिकी वाह्य सत्ता सचमुच नहीं है तो वे किसी स्थान और किसी कालविशेषमें ही क्यों दिखाई देते हैं? सब कहीं क्यों कहीं दिखाई देते!

इसके उत्तरमें योगाचार स्वप्नका उदाहरण देता है। स्वप्नमें वाह्य पदार्थोंके न होनेपर भी उनकी प्रतीति होती है तथा स्थान और काल-विशेषका भी अनुभव होता है। स्वप्नके इस उदाहरणपर भी आक्षेप किया गया है। स्वप्नके पदार्थ वाह्यता नहीं रखते—यह ज्ञान जाग्रतावस्थाकी अपेक्षासे प्राप्त होता है। यदि जाग्रतावस्थाको भी स्वप्न मान लिया जाय तो स्वप्न और जाग्रतावस्थामें कोई अन्तर नहीं रह जाता और इसलिए स्वप्नका उदाहरण भी नहीं दिया जा सकता।

न्याय-वैशेषिक

'न्याय' शब्दका अर्थ है वाद-विवाद करना। न्यायका शाब्दिक अर्थ है 'पीछे जाना' अर्थात् किसी चीज़को समझनेके लिए उसकी जड़ तक पहुँचनेका प्रयास करना। न्यायमें हमें वाद-विवाद करनेके नियम मिलते हैं। गौतमका 'न्याय सूत्र' सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। गौतमका समय ४७० संवत् पूर्वके लगभग माना जाता है।[१] न्यायसूत्रोंपर वात्स्यायनका 'न्यायभाष्य' और उद्योतकरका 'न्यायवार्तिक' माननीय टीकाएँ हैं।

प्रत्येक ज्ञानमें चार शर्तें होती हैं: प्रमातृ अर्थात् जाननेवाला, प्रमेय अर्थात् जानी गई वस्तु, प्रमिति अर्थात् जाननेकी क्रिया और प्रमाण अर्थात् जाननेका साधन। प्रमाण चार हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान।

प्रत्यक्षका अर्थ है किसी वस्तुका साक्षात् होना।[२] प्रत्यक्ष ज्ञान आत्माका मनस्से, मनस्का इन्द्रियोंसे और इन्द्रियोंका विषय अर्थात् जाननेवाली वस्तुसे संयोग होनेपर होता है। प्रत्यक्षमें मनस्का सक्रिय रहना आवश्यक है। मनस् यदि जागरूक न रहे तो हम आंखें खुली रहने पर भी नहीं देख सकते।

प्रत्यक्ष दो प्रकारका होता है: निर्विकल्पक और सविकल्पक। किसी वस्तुको देखनेपर पहले हमें उसका आकार, रूप आदि दिखाई देता है; फिर हम बुद्धिकी सहायतासे उस वस्तुका नामकरण करते हैं। बुद्धिकी क्रिया होनेसे पहले इन्द्रियों और वस्तुओंके सम्पर्कमात्रसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। तत्पश्चात् जब बुद्धि द्वारा

---

१ दे०, विद्याभूषण कृत History of Indian Logic.

२ दे०, गंगेश, प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्।

(तत्त्वचिंतामणि पृ० ५५२)

उस वस्तुका नाम रख दिया जाता है तब वह सविकल्पक प्रत्यक्ष हो जाता है; जैसे 'यह गाय है', 'यह घोड़ा है', इत्यादि। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वस्तुओंको बिना किसी विशेषताके हमारे सामने उपस्थित करता है। सफेद गायको देखनेसे पहले हमें एक गायको स्वयं देखा हुआ होना चाहिए, सफेदपनको देखा हुआ होना चाहिए और गाय और सफेदपनमें समवाय संबंधको भी देखा हुआ होना चाहिए। सविकल्पक प्रत्यक्ष इन्हीं अलग अलग दी गई इकाइयोंको मिश्रित कर देनेकी विधिको कहते हैं। सविकल्पक प्रत्यक्षका ज्ञान प्रत्यक्ष होनेके समय नहीं होता किन्तु एक दूसरे ज्ञानसे होता है जिसे अनुव्यवसाय (तदोपरान्त ज्ञान) कहते हैं। ज्ञान केवल वस्तुओं-का ही न होकर 'ज्ञान' का भी होता है। 'ज्ञान'का ज्ञान अनुव्यवसाय द्वारा होता है।

निर्विकल्पक ज्ञान असत्य नहीं हो सकता। भ्रमकी आशंका सवि-कल्पक ज्ञानमें ही रहती है। नैयायिकोंकी भ्रमकी व्याख्या अन्यथाख्याति कहलाती है। अन्यथाख्यातिका अर्थ है किसी वस्तुके गुणोंका किसी दूसरी वस्तुमें प्रतीत होना। भ्रम तब होता है जब कोई पर्याय समवाय-से सम्बन्धित न होकर भी ज्ञानमें वर्तमान रहे। जैसे मरुस्थल और पानी में समवाय संबंध नहीं है किन्तु फिर भी मरुस्थलमें पानीका वर्तमान होना प्रतीत होता है।[१] यह दृष्टिकोण माध्यमिकके भ्रमके दृष्टिकोणके विरुद्ध है। माध्यमिक दृष्टिकोणके अनुसार जो नहीं है उसका भी प्रत्यक्ष होता है। नैयायिक भ्रमको विधेयात्मक मानते हैं।[२]

प्रत्यक्षके ये सब प्रकार लौकिक हैं। एक अलौकिक प्रत्यक्ष भी होता है। उसके तीन प्रकार हैं : गायके साथ उसका गायपन भी गायकी ही भांति देख लेना; गुलाबको देखकर हमें उसके रक्तत्व और उसकी

---

१ दे०, उद्योतकर, न्यायवार्त्तिक १।१।४।

२ दे०, वात्स्यायन, न्यायभाष्य ४।२।३५।

गन्धका आभास मिल जाता है चाहे गुलाब हमसे दूर ही क्यों न हो; तीसरा यौगिक प्रत्यक्ष है जो मनुष्यको अदृष्टिगोचर वस्तुओं—परमाणु, धर्म आदिका साक्षात् कराता है। अलौकिक प्रत्यक्षको असंगत मानकर एक आपत्ति यह की गई है कि अलौकिक प्रत्यक्षको माननेसे प्रत्येक वस्तुका प्रत्येक समय प्रत्यक्ष होना चाहिए किंतु यह अनुभवके विरुद्ध है।

अनुमानका शाब्दिक अर्थ है 'किसी वस्तुसे नापना।' अनुमान अन्य ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है। अनुमान तीन प्रकारसे होता है, पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। हमने पहले एक गायको देखा था। अब हम उसी गायके सदृश दूसरे पशुको देखकर उसको भी गाय कह देते हैं। सादृश्यका यह आरोप ही पूर्ववत् अनुमान है। कारणको देखकर कार्यका अनुमान कर लेना, घुमड़ती घटाओंको देखकर वर्षा होनेका अनुमान कर लेना भी पूर्ववत् है। शेषवत् अनुमानमें कार्यको देखकर कारणका अनुमान किया जाता है, जैसे नदीकी बाढ़को देखकर बहुत वर्षा हो चुकनेका अनुमान करना। सामान्यतोदृष्टमें भौतिक जगत्के दृष्टान्तके आधारपर अभौतिक अथवा उन वस्तुओंको जाननेकी कोशिश की जाती है जो इन्द्रियोंसे नहीं जानी जा सकतीं। ईश्वरविषयक सभी धारणाएँ सामान्यतोदृष्ट अनुमानपर ही आधारित हैं।

अनुमान दो प्रकारका होता है—स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थानुमान अपने अनुभवसे प्राप्त किया जाता है और परार्थानुमान दूसरोंको समझानेके लिए होता है। परार्थानुमानमें पांच अवयवोंके वाक्यकी आवश्यकता पड़ती है किंतु स्वार्थानुमानके लिए तीन अवयव ही काफी होते हैं।

पांच अवयव ये हैं:

१ पहाड़पर आग है।
२ क्योंकि वहां धुआं है।
३ जहां धुआं होता है वहां आग होती है।
४ पहाड़पर धुआं है जो सदा आगकी उपस्थिति बताता है।
५ इसलिए पहाड़पर आग है।

पहला अवयव प्रतिज्ञा कहलाता है। दूसरेको हेतु, तीसरेको उदाहरण, चौथेको उपनय और पांचवेंको निगमन कहते हैं। पहले अवयवमें पहाड़पर आगका होना सिद्ध करना है, इसलिए पहाड़ तो 'पक्ष' हुआ और आग 'साध्य।' धुएँका होना आगके होनेसे व्याप्त है इसलिए धुएँ और आगमें व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। आग व्यापक है और धुआं व्याप्य। दूसरे अवयवमें पहाड़पर व्याप्य या धुएँकी उपस्थिति बताई गई है। पक्षमें व्याप्यके होनेको 'पक्षधर्मता' कहते हैं। तीसरे अवयवमें धुएँ और आगका सदा एक साथ होना बताया गया है। इसे 'व्याप्ति' कहते हैं। व्याप्तिके साथ पक्षधर्मताका ज्ञान 'परामर्श' कहलाता है जो चौथे अवयवमें है। परामर्शसे उत्पन्न ज्ञानको अनुमिति कहा जाता है। पहाड़पर आग है—यह ज्ञान अनुमिति है।

प्रमा (प्र = ठीक; मा = ज्ञान) तक पहुंचनेका साधन प्रमाण कहलाता है।[१] जानी हुई वस्तु प्रमेय कहलाती है और जाननेवाला प्रमाता। नैयायिक 'शब्द'को भी प्रमाण मानते हैं। 'शब्द'का प्रयोग दो अर्थोंमें होता है। एक तो शब्द उस ध्वनिको कहते हैं जो कानोंसे सुनाई पड़ती है और आकाशका गुण है। यहां 'शब्द'के इस अर्थसे तात्पर्य नहीं है। वर्णोंकी ध्वनिसे जो अर्थ निकलता है वही शब्दप्रमाण है। शुरू शुरूमें पुराने विश्वासोंका किसी ग्रन्थमें लिखा होना ही शब्दप्रमाण समझा जाता था किंतु बादको शब्दका अर्थ प्राचीनताके साथ साथ 'संगति'का गुण होना अर्थात् परस्पर विरोध न होना समझा जाने लगा।

शब्दप्रमाणके बिना काम नहीं चल सकता। जीवनमें किसी व्यक्तिको सब कुछ अनुभव नहीं हो सकता। बहुत सा ज्ञान उसे आप्तजनोंके अनुभवके आधारपर ही लेना पड़ता है। शब्द प्रमाणका उपयोग वहींपर होता है जहां अन्य प्रमाणोंकी पहुंच नहीं हो सकती।

---

१ दे० उदयन, यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्। (तात्पर्यपरिशुद्धि)

शब्दोंके समूहको वाक्य कहते हैं। वाक्यका अर्थ तभी समझमें आ सकता है जब उसमें आकांक्षा, योग्यता और संनिधि (समीपता) हो। यदि हम कहें 'लोटा, सुराही, गर्मी, प्यास' तो इसका कुछ भी अर्थ नहीं हुआ क्योंकि इसमें 'आकांक्षा' नहीं है। यदि कहा जाय 'रोटी पियो' तो यह वाक्य भी निरर्थक है क्योंकि इसमें 'योग्यता' नहीं है। यदि कोई 'पानी' कहे और थोड़ी देर बाद 'लाओ' कहे तो यह भी अप्रमाण होगा क्योंकि इसमें 'संनिधि' अर्थात् समीपता नहीं है।

उपमान प्रमाण वस्तु और उसके नामके संबंधका ज्ञान है। मान लीजिए कि हमने पहले नीलगाय नहीं देखी थी किंतु किसीने हमें बता दिया कि नीलगाय गायके समान ही होती है। अब हम गायके समान पशुको देखकर नीलगायका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।[१] यही उपमान है। उपमानमें व्याप्ति ज्ञानका आश्रय लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

यहां तक हमने ज्ञानकी उत्पत्ति होनेकी विधि ही जानी है। किंतु ज्ञान सत्य कैसे होता है ? ज्ञान सत्य होता नहीं, वह स्वभावतः है ही सत्य। सत्यकी व्याख्या नहीं हो सकती। व्याख्या केवल भ्रम की ही हो सकती है। ज्ञान स्वतःप्रामाण्य है, स्वयंसिद्ध है। सत्यताकी कसौटी ज्ञान और वस्तुकी संवादिता है। यथार्थ ज्ञानकी उत्पत्ति तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे होती है किंतु प्रमाकी परख व्यावहारिक होती है। प्रमाकी असली परख व्यावहारिक सफलतामें है।[२] 'यह कुहरा नहीं है धुआं है'—यह ज्ञान तभी सत्य होगा जब पास जानेपर आग दिखाई पड़ जाय। ज्ञानकी परखको ज्ञानसे अलग व्यावहारिक सफलतामें माननेसे नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी ठहरते हैं।

---

१ दे०, हरिभद्र, प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्याद् अप्रसिद्धस्य साधनम्। उपमानं समाख्यातं यथा गौर् गवयस् तथा। (षड्दर्शन समुच्चय, २३)

२ दे०, न्यायसूत्र १।१।१७।

नैयायिकोंका कार्यविषयक सिद्धान्त असत्कार्यवाद कहलाता है। उत्पत्तिसे पहले घटके अभावको घट-प्रागभाव (प्राग् = पहले + अभाव) कहा जाता है। प्रागभावका प्रतियोगी ही कार्य है। प्रतियोगिता एक प्रकारका सम्बन्ध है। घटकी उत्पत्ति घटके प्रागभावका नाश कर देती है। अभावको वतलानेसे भावपदार्थ उस अभावका प्रतियोगी कहलाता है। घटका होना घटके अभावका प्रतियोगी है। स्पष्ट है कि नैयायिक उत्पत्तिसे पहले कार्यकी उपस्थितिको नहीं मानते। यह मत सांख्यके सत्कार्यवादके ठीक विरुद्ध है। कारण सत् होता है और कार्य असत्। सत्से असत्की उत्पत्ति होती है ऐसा नैयायिकोंका मत है।

किंतु कारणकी परिभाषा[1] क्या है? जो कार्यके पहले नियमसे उपस्थित हो और जो अन्यथासिद्ध न हो उसे कारण कहते हैं।[2] अन्यथासिद्धका अर्थ है जिसकी पूर्ववर्तिता (पहले होना) वास्तविक कारणकी पूर्ववर्तितापर निर्भर हो। अन्यथासिद्धके कुछ प्रकार हैं[3]: समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्धकी दृष्टिसे कारणके गुण, कर्म आदि कारण नहीं हो सकते। दूसरे, कारणका कारण भी कारण नहीं हो सकता, जैसे ईश्वर, काल आदि। तीसरे, कारणकी वह सहकारी या समकालीन वस्तु भी, जो कारणसे समवाय संबंध नहीं रखती, कारण नहीं हो सकती; जैसे, रूप प्रागभाव। घटके रूपका प्रागभाव कारणका समकालीन है और घटके कारणसे समवायसम्बन्ध न रखनेसे घटके रूपका प्रागभाव कारण नहीं है।

अन्य विचारधाराओंमें दो कारण माने जाते हैं, उपादान और निमित्त। कार्यका उत्पादन करनेवाला कारण उपादान है। जो वस्तुएँ कार्यको उत्पन्न करनेमें सहायक होती हैं उन्हें निमित्त कारण कहते हैं; जैसे, कुम्हार

---

१ परिभाषा वस्तुओंकी उस विशेषताको बताती है जो सबमें हो (लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वम्)

२ अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम् (तर्कसंग्रह, ३८)

३ दे०, विश्वनाथ, सिद्धान्तमुक्तावली १९–२२.

घटका निमित्त कारण है। नैयायिकोंने उपादान कारणको समवायि और असमवायिमें बांटा है। समवायि कारण सदा द्रव्य ही होता है और असमवायि गुण या कर्म।

नैयायिक अवयवोंके अतिरिक्त अवयवीकी सत्ताको भी मानते हैं। किसी वस्तुको उसके गुण, धर्मों आदि द्वारा जाना जाता है। रंग, आकार आदिके आधारपर ही हम किसी वस्तुको नारंगी कहते हैं। नैयायिकोंका मत है कि नारंगीकी सत्ता अलग है और उसकी वह सत्ता उसके रंग, आकार आदिपर निर्भर नहीं करती। रंग, आकार आदि नारंगीके विशेष भाग हैं। यदि नारंगीका प्रत्यक्ष उसके इन्हीं विशेष भागों तक ही सीमित होता तो हम नारंगीको कदापि नहीं जान सकते। इसलिए नारंगी अपने अवयवोंका समुदायमात्र ही न होकर एक अलग सत्ता भी रखती है।

अवयवीकी सत्तापर आक्षेप किया गया है। अवयवीकी सत्ता वाह्य सत्ताको सिद्ध करनेके लिए मानी गई थी। वाह्य पदार्थ परमाणुओंके संयोगसे बनते हैं। इस संयोगका नतीजा अवयवी है। नैयायिक वैशेषिककी ही भांति परमाणुओंको 'एक' और निरवयव मानते हैं। किंतु संयोग तो सावयवका ही हो सकता है। निरवयवका संयोग नहीं हो सकता। फिर परमाणुओंको एक ओर तो निरवयव मानना और दूसरी ओर उनका संयोग मानना कैसे सम्भव है? और बिना अवयवोंके संयोगसे अवयवी कैसे बन सकता है?[१]

नैयायिक कुछ वस्तुओंको अमूर्त मानते हैं, जैसे, राग-द्वेष, सुख-दुःख, ज्ञान और यत्न। ये सब जीवके गुण हैं। जीवकी सत्ता नैयायिक अनुमान द्वारा सिद्ध करते हैं। 'मैंने देखा', 'मैं गया' आदि वाक्योंमें 'मैं' हमारे भीतर जीव नामकी वस्तुके होनेका द्योतक है। जीवकी[२] सत्ता न मानने-

---

१ दे०, वसुबन्धु, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, १३.

२ दे०, न्यायभाष्य और न्यायवार्त्तिक १।१।१०।

पर वस्तुओंकी स्मृति कैसे बनी रहती है यह समझना कठिन हो जायगा।[१] इन्द्रियां जीव नहीं हैं क्योंकि यदि आंख और आंख द्वारा देखी गई वस्तु दोनों ही नष्ट हो जायँ तो भी उस वस्तुका ज्ञान बना रहता है और उस ज्ञानको आंख या आंखसे देखी हुई वस्तुका गुण नहीं कहा जा सकता।[२] जीव वह है जो इन्द्रियोंका संचालन करता है और उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान-की विभिन्नताका समन्वय कर उसको एकता देता है।[३] जीव सर्वस्य द्रष्टा, भोक्ता और सर्व अनुभवी (सबका अनुभव करनेवाला) है।

नैयायिक चेतनताको जीवका आवश्यक गुण नहीं मानते।[४] चेतनता जाग्रतावस्थामें जीव और मनस्‌के संयोगसे उत्पन्न होनेवाला गुण है।[५] जीव एक नित्यपदार्थ है। शरीरका निर्माण पूर्वकर्मोंके आधारपर होता है और सुख-दुःखका अनुभव भी शरीर द्वारा ही होता है।[६] किसी अदृष्ट शक्तिके प्रभावसे और पूर्वकर्मोंके आधारपर (**पूर्वकृतफलानुबन्धात्**) शरीरका निर्माण होता है।[७] जीवका शरीरसे सम्बन्ध हो जाना जन्म और पृथक् हो जाना मृत्यु कहलाता है।[८]

दुःखोंसे छुट जाना ही मोक्ष है।[९] नैयायिक यह नहीं कहते कि मोक्षके उपरान्त जीवको नित्य आनन्दावस्था मिल जाती है क्योंकि आनन्द के साथ दुःखकी छाया सदा लगी रहती है। उद्योतकरके अनुसार मोक्ष-

---

१ दे०, न्यायभाष्य, ३।१।१४।

२ दे०, वही ३।२।१८।

३ दे० वही ३।१।१।

४ दे०, न्यायवार्त्तिक ३।२।२४।

५ दे०, न्यायभाष्य १।१।१०। पदार्थधर्मसंग्रह, पृ० ९९।

६ दे०, न्यायभाष्य ३।१।२७।

७ दे० वही ३।२।६०–७२।

८ दे०, न्यायवार्त्तिक ४।१।१०।

९ दे०, न्यायभाष्य १।१।९।

के वाद यदि जीवको नित्य आनन्द प्राप्त होता है तो उसे नित्य शरीर भी प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि विना शरीरके आनन्द आदि किसीका भी अनुभव नहीं हो सकता।[१] मोक्ष जीवकी सत्तात्मक अवस्था मात्र ही है जिसमें उसे सुख दुःख आदिकी अनुभूति नहीं होती। इस अवस्थाकी समानता स्वप्नरहित गहरी नींदसे की गई है (**सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभाववद् अपवर्गः**)।[२]

ईश्वरकी सत्ताको सिद्ध करनेके लिए नैयायिकोंका प्रसिद्ध प्रमाण यह है :—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥[३]

जगत् कार्य है तो उसका कर्त्ता भी होना चाहिए, परमाणुओंको मिलाकर सृष्टिरचनाका आयोजन हुआ है तो उनको मिलानेवाला भी होना चाहिए, जगत्को धारण करनेवाला होना चाहिए नहीं तो नक्षत्र आदि गिर न पड़ें, वेदोंका यथार्थ ज्ञान ईश्वरकृत होना चाहिए, श्रुति भी ईश्वरकी सत्ताका समर्थन करती है, वेदोंमें वाक्य हैं उन वाक्योंका रचनेवाला भी होना चाहिए, संख्याकी कल्पना करनेवाला होना चाहिए। इन तर्कोंके आधारपर ईश्वरकी सत्ता माननी चाहिए।

आलोचकोंका कहना है कि जगत्को 'कार्य' मान लेना तो जो सिद्ध करना है उसे पहलेसे ही सिद्ध मान लेना है। जगत्का 'कार्य' होना स्वयंसिद्ध नहीं है। जगत्को सावयव होनेसे 'कार्य' मान लेना भी अनुचित है क्योंकि प्रत्येक सावयव वस्तुका 'कार्य' होना आवश्यक नहीं है।

× × × ×

---

१ दे०, न्यायवार्त्तिक १।१।२२।

२ दे०, माधव, सर्वदर्शनसंग्रह ४।१।६३।

३ दे०, उदयन, कुसुमाञ्जलि ५।१।

कणादने वैशेषिक सूत्रोंकी रचनाकर वैशेषिक विचारधाराको जन्म दिया था। कणादका समय ४०० संवत् पूर्व अनुमान किया जाता है। वैशेषिक सूत्रोंपर प्रशस्तपादका 'पदार्थधर्मसंग्रह' मान्य ग्रन्थ है।

वैशेषिकमें सात पदार्थ माने गए हैं। पदार्थ वह है जिसका कोई नाम (पद) हो और जिसके विषयमें विचार (अर्थ) किया जा सके। ये सात पदार्थ हैं द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव।[१] इन सातोंमें द्रव्य मुख्य है।

द्रव्य नौ हैं—पृथिवी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, जीव और मनस्।[२] पृथिवी, अप्, तेजस् और वायु अनुभवकी वस्तुओंके कारण हैं। अनुभवकी वस्तुएँ भौतिक अर्थात् भूतोंसे निर्मित होती हैं। पृथिवी-में गंध, रस, रूप और स्पर्श गुण होते हैं। पृथिवी परमाणुओंसे निर्मित होनेके कारण नित्य है क्योंकि परमाणु नित्य होते हैं। किंतु कार्यरूपसे पृथिवी अनित्य है। अप् छूनेमें ठंडा होता है और रूप और रस उसके गुण हैं। तेजस् छूनेमें गर्म होती है और उसका गुण रूप है। तेजस् भी परमाणुरूपसे नित्य और कार्यरूपसे अनित्य है। वायु रूपरहित है किंतु उसके स्पर्शका अनुभव होता है। आकाशमें केवल शब्दका गुण है। आकाश 'एक', नित्य और व्यापक पदार्थ है।

पृथिवी, अप्, तेजस् और वायु अपनी नित्यदशामें परमाणुरूप होते हैं। परमाणुओंका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता इसलिए अपनी नित्यदशामें पृथिवी, अप्, तेजस् और वायुको इन्द्रियोंसे नहीं जाना जा सकता।

काल और दिक् व्यवहारके कारण हैं। कालकी धारणाके विना अतीत भविष्य आदिका और दिक्की धारणाके बिना पूर्व-पश्चिम आदि-का कोई अर्थ नहीं हो सकता। काल और दिक् 'एक', व्यापक और नित्य

---

१ द्रव्यो गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।
समवायस्तथाभावः पदार्थाः सप्तकीर्तिताः॥

२ दे०, वैशेषिक सूत्र १।१।१५।

है। व्यवहारका कारण होनेसे वे औपाधिक (उपाधिवाले) हैं। दिक् और आकाशमें अन्तर है। आकाश दिक्में व्याप्त एक सूक्ष्म द्रव्य है।

जीव अनेक हैं। जीवोंकी अनेकता उनमें '**व्यवस्थातो नाना**' होनेके कारण ही मानी गई है।[१] वैशेषिककी जीवकी धारणा नैयायिकोंके बहुत समीप है। अन्तर केवल यही है कि वैशेषिक, नैयायिकोंके प्रतिकूल, जीवका प्रत्यक्ष नहीं मानते।[२] वैशेषिक जीवकी सत्ताको व्यावहारिक दृष्टिकोणसे कार्यमें ही मानते हैं।[३] चेतनता शरीर, ज्ञानेन्द्रियों या मनस् का गुण नहीं है। यदि चेतनता शरीर आदिका गुण होती तो मरनेके बाद भी मनुष्य चैतन्य रहता। इसलिए वैशेषिकको चेतनताके लिए जीवकी अलग सत्ता माननी पड़ती है।[४] जीवमें ज्ञान रहता है किंतु ज्ञानका रहना संयोगात्मक ही है, आवश्यक नहीं। ज्ञान और जीवकी संयोगात्मिकता स्वप्नरहित नींदसे सिद्ध होती है जहां जीव ज्ञानरहित हो जाता है। जीव होता तो नित्य और सर्वज्ञाता है किंतु ज्ञान उसे शरीरके द्वारा और शरीर के रहने तक ही प्राप्त होता है।[५]

मनस् परमाणुरूप और नित्य है, किंतु पृथिवी, अप् आदिकी भांति किसीकी उत्पत्ति नहीं करता। मनस् प्रत्येक जीवके होता है। मनस् द्वारा ही जीवको ज्ञानकी प्राप्ति होती है। मनस् ही जीवका इन्द्रियों और शरीरसे सम्बन्ध स्थापित करता है।

गुण पदार्थ द्रव्योंके आश्रित रहते हैं—**गुणाश्रयो द्रव्यम्**। गुण किसी वस्तुके बोधक नहीं होते जैसा कि बौद्ध विचारधारामें माना गया है।

---

१ दे०, श्रीधर, न्यायकन्दली ८७–८८।

२ दे०, वशेषिक सूत्र ३।२।६।

३ दे०, सूत्र ३।२।४–१३।

४ दे०, पदार्थधर्मसंग्रह पृ० ६९; सूत्र, ३, १, १९

५ अशरीरिणाम् आत्मनाम् न विषयावबोधः (न्यायकन्दली, पृ० ५७)

गुण अपने आप ही जाने जा सकते हैं। गुणोंकी संख्या चौवीस है। जीव-के द्योतक सभी मानसिक और भौतिक गुण इन्हींमेंसे हैं।

रूप, रस, गन्ध, शब्द, परिणाम, द्वेष, दुख,
संख्या, स्नेह, स्पर्श, परत्व, प्रयत्न, बुद्धि, सुख।
संस्कार, संयोग, धर्म, गुरुता, पृथकत्व,
विभाग, अपरत्व, अधर्म, इच्छा, द्रवत्व।[1]

इनमेंसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, शब्द, धर्म, अधर्म और संस्कार विशेष गुण हैं जिनके द्वारा वस्तुओंमें भेद किया जाता है। संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग (संयोगका नाशक), परत्व, अपरत्व, गुरुत्व ये सामान्य गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग गुण सभी द्रव्योंमें होते हैं। जीव में पांच सामान्य गुण और नौ विशेषगुण–बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार–होते हैं। जीवके इन गुणोंका प्रत्यक्ष मनस् द्वारा होता है।

कर्मका अर्थ यहां गति है। जो नष्ट नहीं होता उसे गुण कहा गया है और जो नष्ट हो जाता है उसे कर्म कहा गया है। कर्म एक ही द्रव्य में रहता है, गुणरहित होता है और संयोग और विभागका अनपेक्ष कारण होता है।[2] वैशेषिक ध्रुवताको सत्यकी एक विशेषता मानते हैं। गतिके पांच प्रकार हैं: उत्क्षेपण, आकुञ्चन, अवक्षेपण, प्रसारण और गमन। गति केवल मूर्त पदार्थोंमें ही हो सकती है। आकाश, काल, दिक् और जीव अमूर्त पदार्थ हैं इसलिए उनमें गति नहीं है।[3] आश्चर्य है कि कणाद जीवको भी गतिहीन मानता था।

---

१ दे०, पदार्थधर्मसंग्रह, पृ० ६६.
२ दे०, वैशेषिक सूत्र १।१।१७।
३ दे०, सूत्र ५।२।२१ और २।१।२१।

सामान्य वह पदार्थ है जो प्रत्येक वस्तुमें सदा विद्यमान रहता है किंतु उसका ज्ञान किसी वस्तुके द्वारा ही होता है। अनेक वस्तुओंमें पाए जानेवाले गुणविशेषको सामान्य नहीं कहते। सामान्य गुण न होकर एक अलग स्वतंत्र पदार्थ है और नित्य, 'एक' और अनेकानुगत है। सामान्योंमें 'सत्ता' सबसे बड़ी है।[१] सामान्य द्रव्य, गुण और कर्ममें रहता है।

जैनी सामान्यका आधार वाह्य जगत्को मानते हैं। वौद्ध ऐसा नहीं मानते क्योंकि इससे 'अनेक' में 'एक' कैसे रह सकता है यह समझ सकनेकी कठिनाई पैदा हो जाती है। अगर सामान्य अनेकानुगत है तो जगत् विच्छृंखलता मात्र हो जायगा, गायमें गायपनके अतिरिक्त भैंसपन भी हो जायगा। बौद्धोंके अनुसार जब हम किसी पशुको गाय कहकर सम्बोधन करते हैं तब हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि हम उसके गायपनको स्वीकार कर रहे हैं, हम वस्तुतः उससे भैंसपन आदिका इनकार करते हैं। सामान्य यदि व्यक्तियोंसे अलग है तो उसका प्रत्यक्ष भी व्यक्तियोंसे अलग होना चाहिए। यदि वह व्यक्तियोंसे अलग नहीं है तो व्यक्तियोंके साथ उसका भी नाश हो जाना चाहिए।

इन आक्षेपोंके उत्तरमें वैशेषिकका कहना है कि सामान्यकी अभिव्यक्ति तो व्यक्तिमें होती है किंतु व्यक्तिके होने या मरनेसे सामान्यकी अभिव्यक्ति प्रकट या अप्रकट हो जाती है स्वयं सामान्य नष्ट नहीं हो जाता। सामान्यकी सत्ताका अनुभव व्यक्तियोंसे अलग होता है, इसलिए अनुभवके वलपर सामान्यको स्वतंत्र सत्तावाला पदार्थ मानना चाहिए।[२]

'विशेष' वह पदार्थ है जिससे परमाणु अन्य परमाणुओंसे अलग रहते हैं।[३] विशेष नित्य द्रव्यों–परमाणु, आकाश, काल आदि–में रहते हैं

१ दे०, सूत्र १।२।४।७–१०.

२ दे० शास्त्रदीपिका.

३ दे० पदार्थधर्मसंग्रह पृ० १३।

और अनन्त हैं।[1] शायद 'विशेष'की धारणाके कारण ही इस विचार-धाराका नाम वैशेषिक पड़ा है। आलोचकोंके मतसे विशेषकी धारणा व्यर्थ है। यदि परमाणुओंको एक दूसरेसे भिन्न करनेके लिए असंख्य विशेषोंकी आवश्यकता पड़ती है तो विशेषोंको भिन्न रखनेके लिए भी तो किसी पदार्थकी आवश्यकता होनी चाहिए। यदि विशेष अपने आप भिन्न रह सकते हैं तो परमाणु भी अपने आप भिन्न क्यों नहीं रह सकते ? विशेषकी धारणा अनवस्थादोषसे युक्त है।

समवाय नित्य संबंध है। वैशेषिक सम्बन्धोंको सत्य मानते हैं। समवाय सम्बन्धवाली वस्तुएँ एक दूसरेसे अलग नहीं की जा सकतीं। इस प्रकार सम्बन्धित वस्तुओंको अयुतसिद्ध कहा जाता है।[2] अयुतसिद्ध सम्बन्धके पांच प्रकार हैं: द्रव्य और गुणका सम्बन्ध, द्रव्य और कर्मका, सामान्य और विशेषका, परम वस्तुओं और विशेषका और समवायि कारण द्रव्य और उसके कार्य द्रव्यका। समवाय और संयोगमें अन्तर है। संयोग अलग हो सकनेवाला सम्बन्ध है।

अभाव वैशेषिकका अन्तिम पदार्थ है। अभावका अर्थ है किसी वस्तुका किसी स्थानपर न होना। अभावका अर्थ बिल्कुल ही न होना नहीं है। अभाव चार प्रकारका होता है: प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव। प्रागभाव अनादि और सान्त होता है। उत्पत्तिसे पहले घटका अनादि प्रागभाव होता है जो घटकी उत्पत्ति होते ही नष्ट हो जाता है। प्रध्वंसाभाव सादि (जिसका आदि हो) और अनन्त होता है। अन्योन्याभावका अर्थ है एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें अभाव होना। किसी वस्तुका न होना अत्यन्ताभाव है।

---

१ दे०, सप्तपदार्थी पृ० १२, विशेषस् तु यावन् नित्यद्रव्यवृत्तित्वाद् अनन्ता एव।

२ अयुतसिद्धानां आधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः (पदार्थधर्मसंग्रह पृ० १४)

अभाव पदार्थको न माननेसे सब वस्तुएँ नित्य हो जायँगी । प्रागभाव-के विना सारी वस्तुएँ अनादि हो जायँगी, प्रध्वंसाभावके बिना अनन्त हो जायँगी, अन्योन्याभावके विना वस्तुओंमें भेद नहीं रहेगा और अत्यन्ता-भावके विना सब वस्तुओंकी सत्ता सव जगह सम्भव हो जायगी, इसलिए अभावको मानना आवश्यक है ।

खण्डोंसे निर्मित सारी वस्तुएँ खण्डोंसे ही उत्पन्न होती हैं और उनमें समवाय और संयोग सम्वन्ध होता है । अनुभवकी सारी वस्तुएँ खण्डोंसे निर्मित होनेसे अनित्य होती हैं । अनित्यको नित्यके बिना नहीं समझा जा सकता । किसी वस्तुको खण्ड खण्ड करनेकी सीमा होती है जिसके आगे उसके और खण्ड नहीं किए जा सकते । परमाणु वही सीमा है । परमाणु अगोचर और नित्य होते हैं । उनमें भीतर-बाहरका भेद नहीं होता । परमाणुओंके चार प्रकार माने गए हैं जो स्पर्श करने, स्वाद लेने, देखने और सूंघनेकी इन्द्रियोंको उत्पन्न करते हैं । यद्यपि स्पर्श, स्वाद आदि गुण वस्तुओंके नष्ट हो जानेपर लुप्त हो जाते हैं तथापि वे अपने परमाणुरूपमें सदा रहते हैं । दृश्यजगत् नष्ट हो जाता है किंतु परमाणु नवनिर्माणके लिए सदा वने रहते हैं । वैशेषिकके अनुसार परम परमाणुओं-में गति एक विशेष धर्म[1]से उत्पन्न होती है जिसका कारण अदृष्ट[2] है । परमाणु कार्यके उपादान कारण हैं ।

पकनेपर कच्चे घड़ेका रंग परिवर्तित हो जाता है । रंगका यह परिवर्तन परमाणुओंमें होता है या घड़ेमें ? वैशेषिकके मतसे परिवर्तन परमाणुओंमें होता है । पकाते समय घड़ा परमाणुओंमें विशीर्ण हो जाता है । गर्मीसे विशीर्ण परमाणुओंका रंग लाल पड़ जाता है और वे फिर घड़ेके रूपमें आ जाते हैं । इस प्रकार एक घड़ा नष्ट होकर दूसरा उत्पन्न होता है । इसे पीलुपाकवाद कहते हैं ।

---

१ धर्मविशेषात् (सूत्र ४।२।७) ।

२ सूत्र ५।१।१५ ; ५।२।७

इसपर नैयायिकोंका आक्षेप है कि यदि सचमुच एक घड़ा नष्ट होकर दूसरा उत्पन्न होता है तो उसे पहलेवाला ही घड़ा नहीं समझा जा सकता। किंतु अनुभवमें तो घड़ा रंग परिवर्तनके अतिरिक्त पहले ही सा रहता है। नैयायिकोंके अनुसार रंगका परिवर्तन परमाणुओं और घड़े दोनोंमें एक साथ ही होता है। इस मतको पिठरपाकवाद कहते हैं।

वैशेषिक सूत्रोंमें ईश्वरका जिक्र नहीं है। परमाणुओंमें गतिका कारण अदृष्टको माना गया है। कणादके बाद उसके अनुयायियोंने वैशेषिक विचारधारामें ईश्वरका प्रवेश करा दिया।

वैशेषिकके अनुसार मोक्ष वह अवस्था है जिसमें जीवसे उसके नौ गुण छूट जाते हैं[1]। मोक्ष आनन्द और अनुभवसे रहित अवस्था है।

---

१ दे० माधव, अत्यन्तनाशो गुणसंगतेर्या स्थितिर्नभोवत्कणभक्षपक्षे मुक्तिस्तदीये (शंकरविजय)।

सांख्य-योग

सांख्य विचारधारा बहुत ही प्राचीन है। कठ, श्वेताश्वतर और मैत्री उपनिषदोंमें सांख्यके विचार पाए जाते हैं। गीतापर भी सांख्यकी छाप स्पष्ट है। सांख्यके विचार चरकमें भी हैं। महाभारतकी अनुगीता-में भी सांख्यके पुरुष और प्रकृतिका विवेचन मिलता है। किंतु इन सबका सांख्य सेश्वर (ईश्वरको माननेवाला) है। अपने वैज्ञानीय रूपमें सांख्य सेश्वर नहीं है। सांख्यको वैज्ञानीय रूप कपिलने दिया था। कपिलका समय ४० संवत्पूर्वके लगभग माना जाता है। 'सांख्य प्रवचन सूत्र' और 'तत्त्वसमास' कपिलकी कृतियां बताई जाती हैं। सांख्यपर सबसे प्राचीन ग्रन्थ ईश्वरकृष्णकी 'सांख्यकारिका' है। गौड़पादने इन कारिकाओंपर टीका लिखी है। सांख्यसूत्रोंपर विज्ञानभिक्षुका 'सांख्य प्रवचन भाष्य' और सांख्यकारिकाओंपर वाचस्पति मिश्रकी 'सांख्य तत्त्वकौमुदी' प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

सांख्य न्याय-वैशेषिकके असत्कार्यवाद[1] को नहीं मानता। असत्कार्य-वाद उत्पत्तिसे पहले कार्यको असत् मानता है। सांख्यका आक्षेप है कि जो असत् है उसे सत्तामें नहीं लाया जा सकता। यदि दही उत्पत्तिसे पहले असत् है तो वह दूधसे ही क्यों बनता है? पानीसे क्यों नहीं बनता? कार्य का (घटका) अपने उपादानकारण (मिट्टी) से संबंध होता है और संबंध दो सत्पदार्थोंमें ही हो सकता है।[2] सत् और असत्में संबंध नहीं हो सकता।

---

१ असत्कार्यवादको आरम्भवाद (नवीनोत्पत्तिका सिद्धान्त) भी कहते हैं क्योंकि कार्यकी सत्ताका आरम्भ कार्यकी उत्पत्तिके बाद होता है, पहले नहीं।

२ सतोर्हि सम्बन्धः सम्भवति न सदसतोः असतोर्वा (वेदान्तसूत्र, शंकरभाष्य; २।१।१८)।

यदि कार्य और कारणमें संबंध न माना जाय तो कोई भी वस्तु किसी भी वस्तुका कारण हो सकेगी और सब कार्य सब जगह सम्भव हो जायँगे ।[१] अभिव्यक्ति होना ही कार्यकी उत्पत्ति है और अभिव्यक्तिका अर्थ है ज्ञान-का विषय हो जाना ।[२] असत् ज्ञानका विषय नहीं हो सकता और चूंकि अभिव्यक्तिका अर्थ ज्ञानका विषय हो जाना है इसलिए असत्की अभि-व्यक्ति भी नहीं हो सकती । दूसरे शब्दोंमें कार्य उत्पत्तिसे पहले असत् नहीं हो सकता । सांख्यका यह सिद्धान्त सत्कार्यवाद कहलाता है ।

सत्कार्यवादकी भी तीव्र आलोचना हुई है । नैयायिक और मीमांसक सत्कार्यवादकी आलोचना व्यावहारिक दृष्टिसे करते हैं । उनका कहना है कि उत्पत्तिसे पहले घड़ेको सत् मानना असंगत है । उत्पत्तिसे पहले जो घड़ा सत् रहता है उससे पानी नहीं लाया जा सकता, फिर उसकी सत्ता जाननेसे लाभ ही क्या । बौद्धोंका कहना है कि कार्यकी अभिव्यक्तिके लिए कारणमें कुछ 'परिवर्तन' होना चाहिए । यदि उस 'परिवर्तन' को पहलेसे ही सत् मान लिया जाय तो कार्यको भी पहलेसे ही अभिव्यक्त होना चाहिए । यदि 'परिवर्तन'को सत् न माना जाय तो असत्की उत्पत्ति माननी पड़ेगी ।[३]

सांख्य जगत्के मूल तत्त्वका अनुमान सत्कार्यवादके आधारपर करता है । भौतिक जगत् जो अब अपने प्रकट रूपमें है किसी दिन अवश्य अप्रकट रहा होगा । जगत्की उसी अप्रकट अवस्थाको सांख्यमें 'प्रकृति' (प्रधान या अव्यक्त) कहा गया है । प्रकृति जगत्का आदि कारण है । जगत्की

---

१ असदकारणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाऽभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।। (सांख्यकारिका)

२ दे०, शंकर, अभिव्यक्तिः साक्षाद् विज्ञानालम्बनत्वप्राप्तिः (बृहदारण्यक भाष्य) ।

३ दे०, शांतरक्षित, तत्त्वसंग्रह ।

अनेकता प्रकृतिसे ही निकलती है। इसे परिणामवाद कहते हैं क्योंकि जगत् और जगत्की वस्तुओंकी अनेकता प्रकृतिका परिणाम है।

भौतिक जगत्का विश्लेषण करनेपर उसकी तीन विशेषताएँ पता चलती हैं, सत्त्व, रजस् और तमस्। ये तीनों गुण कहलाते हैं। सतोगुण हलका और प्रकाशक होता है, रजोगुण उपष्टंभ करनेवाला और क्रियात्मक, तमोगुण भारी और आलस्य पैदा करनेवाला। जैसे बत्ती तेल और दीपक अलग अलग होनेपर भी एक निश्चित प्रयोजनको पूरा करते हैं उसी प्रकार ये तीनों गुण अलग अलग होते हुए भी एक साथ रहकर अपना काम करते हैं।[1]

प्रकृति इन तीनों गुणोंसे मिलकर निर्मित है। गुण प्रकृतिकी विशेषताएँ नहीं हैं वे उसके अंग हैं जो जीवको प्रकृतिसे बांधनेके लिए रस्सी (गुण) बनाते हैं। उत्तरकालीन सांख्यमें इन तीनों गुणोंको अनन्त माना गया है और इनकी अनन्तताके कारण प्रकृतिको असीम कहा गया है।

साधारणतया जगत्की उत्पत्तिकी व्याख्या करनेके लिए पुद्गलको मानकर और उसे देश-कालके अन्तर्गत करके जगत्की व्याख्या कर दी जाती है। सांख्यमें ऐसा नहीं है। सांख्यकी प्रकृति देश और कालसे परे है। देश और काल प्रकृतिके ही दूरवर्ती परिणाम हैं। प्रकृति उनको जन्म देती है, वह स्वयं उनमें नहीं है। विज्ञानभिक्षुके अनुसार देश-कालकी उत्पत्ति आकाशसे होती है।

सृष्टि होनेसे पहले प्रकृतिके तीनों गुण साम्यावस्थामें रहते हैं। गुणोंके साम्यके भंग होनेका नाम ही सृष्टि है। जगत् विषमता-मूलक है। गुणोंकी साम्यावस्था प्रलयकी अवस्था है। प्रकृति प्रलयमें भी सक्रिय रहती है। उस समय प्रकृति सदृश परिणाम उत्पन्न करती रहती है। पानीसे बर्फ बनना सदृश परिणाम है। क्योंकि पानी और बर्फके मुख्य गुणोंमें कोई भेद नहीं है। जगत्का सर्ग प्रकृतिके विसदृश परिणामका फल है। प्रकृतिके विसदृश परिणामसे जो कुछ भी उत्पन्न होता है

१ दे०, सांख्यकारिका, १३।

वह पहले अव्यक्तरूपसे प्रकृतिमें ही निहित रहता है। इस प्रकार संसारमें नवीनोत्पत्ति नहीं होती। विनाशका अर्थ केवल रूप परिवर्तन है, सर्वथा अभाव नहीं।

प्रकृतिका परिणाम पुरुषके सान्निध्य (समीप होने) से होता है। यह पुरुष क्या है? सांख्य पुरुषकी सिद्धि भी प्रकृतिकी भांति अनुमान से करता है। प्रकृति तीन गुणोंका संघात है इसलिए किसी ऐसी वस्तुको मानना पड़ता है जो संघातमय न हो अर्थात् पुरुष। संघातमय वस्तुएँ दूसरोंके लिए होती हैं। कुर्सी बैठनेवालेके लिए होती है। यदि पुरुषको त्रिगुणमय मानें तो अनवस्था दोष आता है। पुरुष 'किसी और'के लिए हो जायगा और उस 'किसी और' को भी किसी 'दूसरेके लिए' मानना पड़ेगा और इसका कभी अंत न होगा। भौतिक जगत् जड़ होनेसे अनुभवहीन है इसलिए उसके अनुभवके लिए कोई अधिष्ठाता चाहिए। फिर जगत्के सुख-दुःखका भोगनेवाला भी होना चाहिए। यदि घड़ियोंका कोई उपयोग करनेवाला न होता तो घड़ियां नहीं बनाई जातीं। मनुष्य संसारसे मुक्त होनेकी लालसा रखता है और जो मुक्त होनेका प्रयत्न करता है वह जिससे मुक्त होना चाहता है उससे (अर्थात् प्रकृतिसे) अलग होगा।[१] 'न प्रकृतिर्न विकृतिः' होनेके कारण पुरुष अपरिवर्तनशील, नित्य, सर्वगत और चेतन है। पुरुष कर्त्ता न होते हुए भी भोक्ता है।

पुरुषको सिद्ध करनेके ये सारे प्रमाण उपाधि-संयुक्त पुरुषको ही सिद्ध करते हैं। वातावरणके भेद द्वारा सांख्य पुरुषोंकी अनेकताको सिद्ध करता है। सुख-दुःख आदि पुरुषके स्वाभाविक धर्म नहीं हैं। प्रकृतिके संसर्गसे ही पुरुषमें इनकी प्रतीति होती है। यदि सुख-दुःख पुरुषके स्वाभाविक धर्म होते तो पुरुषकी मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि स्वाभाविक धर्म छोड़े नहीं जा सकते। मुक्तिका अर्थ है कैवल्य या अकेलापन।

---

१ **संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।**
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च। (१७ वीं कारिका)

प्रकृतिका संसर्ग छूट जाना ही मोक्ष या कैवल्य है। प्रकृतिके संसर्गमें आने पर ही पुरुषको जीव कहा जाता है।

पुरुष और प्रकृति बिल्कुल विरुद्ध गुणवाले हैं। फिर उनमें संबंध क्या है? सांख्यके अनुसार प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध अंधे और लँगड़े (अंधपंगु) दो आदमियों जैसा है। प्रकृति अचेतन है और पुरुष गतिहीन। दोनोंको एक दूसरेकी अपेक्षा है। पुरुष और प्रकृतिके संबंधको समझानेके लिए सांख्यका अंधपंगुरूपक बहुत अस्पष्ट है। प्रकृति त्रिगुणात्मक होनेसे संघातमय है और संघातमय वस्तुएँ दूसरे (उपयोग करनेवाले) के लिए होती हैं। अतएव प्रकृति पुरुषके लिए है। प्रकृतिका परिणाम पुरुषके भोग और मुक्तिके लिए होता है, यह समझमें नहीं आता। यदि पुरुष सुख दुःखसे रहित है और असंग है तो भोग और मुक्तिका क्या अर्थ हो सकता है?

पुरुषके सान्निध्यसे प्रकृतिका परिणाम होता है। सांख्य पुरुषको प्रकृतिकी भांति नित्य और सर्वगत मानता है। तब तो प्रकृति और पुरुषका सान्निध्य भी नित्य होना चाहिए। ऐसी दशामें प्रकृतिके सदृश परिणामकी बात उलझ जाती है। पुरुषोंकी अनेकता माननेसे सान्निध्यका क्या अर्थ हो सकता है, यह भी एक कठिनाई है। विज्ञानभिक्षुके अनुसार प्रधान पुरुषके सान्निध्यको मान लेना ही ठीक है।

प्रकृतिका पहला विकार महत् (बुद्धि) है। महत्से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकारके कारण ही मनुष्य मनुष्यमें भेद होता है। अहंकारसे मनस्, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और पांच तन्मात्र ये सोलह पदार्थ उत्पन्न होते हैं। तन्मात्रोंसे पांच भूत उत्पन्न होते हैं। शब्द तन्मात्रसे आकाश, शब्द और स्पर्श तन्मात्रसे वायु, इन दोनों और रूप तन्मात्रसे तेजस्, इन तीनों और रस तन्मात्रसे अप् और इन चारोंसे पृथिवीका प्रादुर्भाव होता है।[१] तन्मात्र भूतोंके सूक्ष्मरूप हैं। मूल प्रकृति किसीका

---

१ प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ (२२)

विकार नहीं है; महत्, अहंकार और पांच तन्मात्र प्रकृति और विकार दोनों हैं; मनस्, दस इन्द्रियां और पांच भूत विकार हैं। पुरुष न प्रकृति है और न विकार।[1]

सर्ग यहीं तक आकर नहीं रुक जाता, वह होता ही रहता है। पृथिवी वृक्ष आदिमें परिवर्तित हो जाती है। भूतों तकके सर्गको 'तत्त्वान्तर परिणाम' कहते हैं। यहांपर ध्यान देने योग्य बात यह है कि तन्मात्रोंको भूतोंसे पहले माना गया है, भूतोंको तन्मात्रोंसे पहले नहीं। यह सांख्यका तन्मात्रवाद है। तत्त्वोंकी इतनी बड़ी संख्या माननेके कारण ही शायद इस विचारधाराका नाम सांख्य पड़ा।

कहा जा सकता है कि जगत्का कारण महत्को क्यों न मानकर अव्यक्त प्रकृतिको क्यों माना गया है? किन्तु महत्से लेकर पृथिवी आदि सारे पदार्थ परिमित हैं और सब परिमित पदार्थ कार्य होते हैं। महत् भी परिमित पदार्थ होनेसे कार्य है इसलिए उसका भी कोई कारण होना चाहिए जो प्रकृति ही हो सकती है।

सांख्य 'मानसिक' और 'भौतिक'के बीच भी खाई नहीं खोदता। हमारी मानसिक भावनाएँ और भौतिक जगत्के पदार्थ एक ही प्रकृतिका विकार हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि मानसिक भावनाएँ अपनी सूक्ष्मता के कारण पुरुषके चेतन प्रतिबिम्बको ग्रहण कर सकती हैं और भौतिक पदार्थ पुरुषसे बहुत दूर होनेके कारण पुरुषका चेतन प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं कर सकते।

सांख्य पुनर्जन्ममें विश्वास करता है। किंतु वह बुद्धि, अहंकार, मनस्, दस इन्द्रियां, पांच तन्मात्र इन अट्ठारह तत्त्वोंसे निर्मित लिंग शरीरका ही पुनर्जन्म मानता है। प्रत्येक पुरुषसे संबद्ध लिंग शरीर अपने पिछले कर्मोंके अनुसार उत्पन्न होकर विशेष योनिमें आता जाता रहता है। ज्ञान

---

१ मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ (३)

होनेपर नए कर्म, धर्म आदि बनना बन्द हो जाते हैं और पिछले कर्म भी शक्तिहीन हो जाते हैं।

सांख्य ईश्वरको नहीं मानता। प्रकृति उद्देश्यात्मक होनेके कारण अपना विकास स्वयं कर लेती है और उसे किसी बाहरी सहायताकी आवश्यकता नहीं पड़ती। सांख्यके अनीश्वरवादका मूल है प्रकृतिका उद्देश्यात्मक होना।

पुरुष सब वस्तुओंसे अलग रहता है इसलिए वह अनुभव नहीं कर सकता। बुद्धिका प्रादुर्भाव प्रकृतिसे होता है इसलिए बुद्धि जड़ है और अनुभव नहीं कर सकती। बुद्धि (महत्) प्रकृतिका पहला विकार है। अपने मूलरूपमें प्रकृति अव्यक्त है। बुद्धिके रूपमें ही वह पुरुषके सामने आती है और उससे संबद्ध होती है। बुद्धि पुरुषसे संबद्ध होकर अनुभव करनेके योग्य हो जाती है।[1] पुरुष और बुद्धिका यह संयोग स्फटिक पत्थरमें प्रतिबिम्बित गुलाबके फूलके समान है। पत्थरमें फूलका रंग प्रतिभासित तो होता है किन्तु पत्थर स्वयं लाल नहीं हो जाता। इसी प्रकार बुद्धिके अनुभव पुरुषके प्रतीत होते हैं। बुद्धि अनुभवकी सामग्री जुटाती है और पुरुष उसका अनुभव करनेके लिए चेतनता देता है। बुद्धि और पुरुषकी यही संबद्धावस्था ज्ञान है। बुद्धिके विकारोंको वृत्ति और उसमें पुरुषके प्रतिबिम्बको ज्ञान कहते हैं। दसों इन्द्रियां, मनस्, अहंकार और बुद्धि व्यक्तिको अनुभव करानेमें सहायक होती हैं और पुरुषके लौकिक रूपमें पुरुषमें विद्यमान रहती हैं। न्याय-वैशेषिक इन्द्रियोंका प्रादुर्भाव भूतोंसे मानता है किंतु सांख्य अहंकार से।

प्रत्यक्ष किसी वस्तुके चिह्न या आकारकी सहायतासे होता है। आकार बुद्धिमें प्रविष्ट नहीं होता किंतु बुद्धिका बाहरसे प्रेरणा मिलने-

---

१ **तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनादिव लिंगम्।**
गुणकर्तृत्वे त्वपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥ (२०)

पर स्वयं आकारका रूप ग्रहण कर लेना ही प्रत्यक्ष है।[1] वस्तुकी छाप इन्द्रियोंपर पड़ती है और इस प्रकार जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अस्पष्ट होता है। ऐसे ज्ञानको 'आलोचन मात्र' कहा गया है और यह निर्विकल्पक अवस्थाका सूचक है। सविकल्पक ज्ञान मनस्‌की सहायतासे प्राप्त होता है। प्रत्यक्षके अतिरिक्त सांख्य अनुमान और शब्दको भी प्रमाण मानता है।

ज्ञान बुद्धिवृत्ति द्वारा होता है—यह दृष्टिकोण योगाचारके ज्ञातावाद-सा लगता है। किंतु यह ज्ञातावाद नहीं है क्योंकि सांख्य पहलेसे ही यह मान लेता है कि ज्ञान अपनेसे अलग वस्तुका बोधक है। आकार ज्ञाता और ज्ञेयमें केवल सम्बन्ध स्थापित करानेका साधन है।

भ्रम या तो अधूरे ज्ञानके कारण होता है या अविवेकके कारण। भ्रम या तो खण्डको सम्पूर्ण समझ लेना है या दो वस्तुओंमें भेदको न देख सकनेके कारण उन्हें एक समझ लेना है, जैसे श्री मैथिलीशरण गुप्तके तोतेने उर्मिलाके नाकके मोतीको उसके होंठोंकी कान्तिसे अनारका वीज समझ लिया था।[2] भ्रम पर्याप्त ज्ञानके न होने (अख्याति) से होता है, गलत ज्ञान (अन्यथाख्याति)से नहीं। भ्रमका कारण व्यक्तिमें ही ढूंढ़ना चाहिए।

बुद्धि और पुरुष अपने आपमें चेतन-ज्ञाता नहीं हो सकते। जबतक उन्हें एक न माना जाय तबतक ज्ञान सम्भव नहीं है। उन्हें एक माननेका अर्थ है कि हम ज्ञानमें दो वस्तुओं (पुरुष और बुद्धि)की उपस्थितिको नहीं देख पाते। हमारा यही अविवेक सारे ज्ञानकी पहली शर्त है। पुरुष अपने लौकिकरूपमें इसी अविवेकसे निर्मित होता है। इस अविवेकसे मुक्त हो जाना ही जीवनका मुख्य उद्देश्य है।

× × × ×

योगकी धारणा बहुत पुरानी है। योगतत्त्व उपनिषद्‌में चार प्रकारके योगका वर्णन मिलता है: मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। योग

---

१ यत् संबद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् (१। ८९)
२ दे०, साकेत, प्रथम सर्ग।

शब्दकी व्युत्पत्ति कई प्रकारसे की जा सकती है। कर्म कारकमें योगका अर्थ मनस्की वह अवस्था है जब चित्तकी वृत्तियोंमें एकाग्रता आ जाती है (युज्यते एतद् इति योगः)। करण कारकमें योगका अर्थ वह साधन है जिससे चित्तकी वृत्तियोंमें एकाग्रता लाई जाती है (युज्यते अनेन इति योगः)। अधिकरण कारकमें योगका अर्थ वह स्थान है जहां चित्तवृत्तियोंकी एकाग्रता उत्पन्न की जाती है (युज्यते तस्मिन् इति योगः)। योग अथवा समाधिसे तात्पर्य उस रहस्यात्मक शक्तिसे भी है जो कर्त्ताके जीवनमें आमूल परिवर्तन ला सकती है। महाभारतमें योग शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोंमें हुआ है किन्तु वह सब जिस धातु (शायद युजिर योगे)से निकले हैं उसका अर्थ है "जोड़ना" या "मिलाना"। कठोपनिषद्में योग शब्दका प्रयोग 'इन्द्रियोंको वशमें करना' के अर्थमें हुआ है।[1] गीतामें यद्यपि योग शब्दका प्रयोग विभिन्न अर्थोंमें हुआ है तथापि उन सबका सम्बन्ध "जोड़ना" अर्थसे ही है। मनुने योग शब्दका अर्थ 'वशमें करना' किया है जो शायद 'युज् संयमने'[2] धातुसे सम्बन्धित है। पालि भाषामें भी योग शब्दका प्रयोग 'जोड़ना' 'वशमें करना' या 'प्रयत्न करना' के अर्थमें किया गया है जैसा 'पुब्बयोगे' या 'चित्तस्य निग्गान्हे योगो करणीयो' आदिसे स्पष्ट है।

पतंजलिने पहले पहल योग शब्दको समाधिके अर्थमें प्रयुक्त किया है। व्यासने योग शब्दका अर्थ 'योगः समाधिः' किया है। वाचस्पतिका मत है कि योग शब्द 'युज् समाधौ'से निकला है, 'युजिर् योगे'से नहीं।[3]

मनुष्यका मन चंचल होता है। यदि अत्यधिक एकाग्रतासे मनको वशमें कर लिया जाय तो वह पूर्णरूपसे स्थिर अवस्थामें हो जाता है और

१ दे०, ६।११।

२ दे०, ७।४४।

३ युज् समाधौ इत्यस्मात् व्युत्पन्नः समाध्यर्थो, न तु युजिर योगे इत्यस्मात् संयोगार्थ इत्यर्थः—(तत्त्व वैशारदी)।

उस समय ऐसे सत्यका साक्षात्कार होता है जो प्रमाणोंद्वारा प्राप्त किए गए सत्यके बिल्कुल विपरीत होता है। इस प्रकारकी मानसिक अवस्था और उससे प्राप्त ज्ञानका मूल्य निर्धारित करना आवश्यक था। पतंजलिने २०० संवत् पूर्वके आसपास योग सम्बन्धी इन्हीं बिखरी हुई धारणाओंका अपने 'योगसूत्र'में संपादन किया और उन्हें सांख्य विचारधाराके अनुकूल बनाकर एक क्रम दे दिया। किन्तु योगकी धारणामें पतंजलिके बाद भी व्यास, वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु आदिके द्वारा अनेक सुधार होते रहे।

योग सांख्यका व्यावहारिक पूरक है। योगका प्रमुख उद्देश्य कैवल्य प्राप्तिके साधन बताना है जिससे हम अविवेकसे मुक्त हो सकें। योगके अनुसार मनस् और जगत्की वस्तुएँ असीम गुणोंके मेलसे बनी हैं। मनस् में सत्त्व और रजस्की प्रधानता होती है और जगत्की वस्तुओंमें तमस् और रजस् की। अनुभवमें हम मानसिक अवस्थाओंका अविच्छिन्न प्रवाह ही देखते हैं। किंतु यदि अनुभवका विश्लेषण किया जाय तो पता चलता है कि उसमें एकता तथा उद्देश्य निहित रहता है। हमारे मनमें बहुत सी चीजें संस्कार अवस्थामें रहती हैं किन्तु हमें उनका प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि हमारी मानसिक अवस्थाएँ एक ऐसी दशामें भी रहती हैं जब उनमें चेतनताका आरोप नहीं किया जा सकता। चेतनता उनका जन्मजात गुण नहीं है। किन्तु फिर भी वे विशेष परिस्थितियोंमें—पुरुषके सम्पर्कमें आकर—चेतनताका विषय बन जाती हैं।

चेतनताका वास्तविक सिद्धान्त—पुरुष—हमारे मनोवैज्ञानिक अनुभवों में विषयता ग्रहण नहीं करता। हमारी अनुभवजन्य प्रत्येक मानसिक अवस्था जीव या अहम्की किसी न किसी धारणासे अवश्य सम्बन्धित रहती है। अपनी किताबको मेज़पर देखकर जब मैं सोचता हूं 'यह मेरी किताब है', तो इस अनुभवमें तीन बातें हैं : विषयका आभास, किताबका वास्तविक बोध, किताबका 'अहम्'की धारणासे सम्पर्क। किन्तु यहां 'अहम्'

का यह अनुभव देखनेकी क्रियाका एक आवश्यक पूरक ही है। इसे वास्तविक जीवका अनुभव नहीं कहा जा सकता। एक बात और : हरेक अनुभवमें 'अहम्'की धारणाका सम्पर्क अलग अलग तरहसे होता है। अपने शरीरके किसी भागका अनुभव किताबके अनुभवसे अधिक घनिष्ठ है। स्पष्ट है कि हमें 'अहम्'के इस अनुभवसे चेतनतामें किसी ध्रुव जीवका अनुभव नहीं होता।

यदि हमारे अनुभवोंके पीछे कोई ध्रुव जीव नहीं है तो उनमें एकता कहांसे आती है ? यह एकता मानसिक अवस्थाओंमें नहीं हो सकती क्योंकि वे बदलती रहती हैं। यह एकता 'अहम्'की धारणासे भी नहीं आ सकती, क्योंकि 'अहम्'का सम्पर्क हरेक अनुभवमें बदलता रहता है। अनुभवोंमें जो एकता होती है उसे स्वीकृत करते हुए किसी ध्रुव जीवकी सत्ताको मानना पड़ता है जिसके सम्पर्कसे अनुभवोंमें एकता आती है। इस जीव या पुरुषकी सत्ता हमारी मनोवैज्ञानीय क्रियाओंमें निहित रहती है। उसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

मनस् विभिन्न गुणोंके मेलसे बना है। जिस प्रकार आग, बत्ती और तेल यद्यपि एक दूसरेसे बिल्कुल अलग होते हैं तथापि उनके मेलसे लौ बनती है उसी प्रकार मनस् भी विभिन्न गुणोंसे निर्मित होता है। मनस्का यह मिश्रण प्रत्येक क्षण परिवर्तित होता रहता है और परिवर्तनके प्रत्येक क्षणमें मनस्पर संस्कार बनते रहते हैं। कालान्तरमें पुराने संस्कार क्षीण हो जाते हैं और उनका स्थान नए संस्कार ले लेते हैं। किन्तु पुराने संस्कार बिल्कुल नष्ट नहीं होते। वह मस्तिष्कके अर्धचेतन भागमें चले जाते हैं और बादमें पूरी या अधूरी तरहसे उभर सकते हैं। कुछ मानसिक अवस्थाएँ जल्दी और कुछ धीरे धीरे क्षीण होती रहती हैं। जो मानसिक अवस्थाएँ बहुत जल्दी क्षीण हो जाती हैं उन्हें यदि बादमें उभारा भी जाय तो वे खण्डितरूपमें ही उभर सकती हैं। योगका विश्वास है कि इन मानसिक अवस्थाओंमें कुछ ऐसी भी होती हैं जो मनस्का 'प्रकार' बन

जाती हैं और अनेक जन्मों तक बनी रहती हैं। वह कभी चेतनताका विषय नहीं वन पातीं और अदृश्य रूपसे हमारे विचारों तथा जीवनको प्रभावित करती रहती हैं। मनस्‌की इन अदृश्य प्रवृत्तियोंको वासना कहा जाता है। मनस्‌में इन वासनाओंका जाल बिछा रहता है। ये वासनाएँ दो तरहसे वनती हैं : एक तो पूर्व जन्मके अनुभवोंसे और दूसरे इसी जन्मके बार बारके अनुभवोंसे।

साधारणतः मनस्‌की पांच वृत्तियां हैं: प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रमाणमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शव्द हैं। विपर्यय भ्रम है जो इन्द्रिय दोषसे उत्पन्न होता है। विकल्प भाषाकी उन विवशताओंको कहते हैं जिनके बिना भाषा और विचार सम्भव ही नहीं हो सकते। निद्रामें मनुष्यको अपने ऊपर कोई अधिकार नहीं रहता और तव अर्धचेतन भागमें पड़े हुए संस्कारों द्वारा स्वप्न उत्पन्न होते हैं। स्मृति वह वृत्ति है जिससे अर्धचेतन भागमें पड़े हुए पुराने संस्कारोंको फिरसे उभारा जाता है।

जाग्रतावस्थाकी हमारी सारी क्रियाएँ इन संस्कारोंसे संचालित होती रहती हैं। यदि ऐसा है तो हम नैतिक तथा सदाचारी बन सकनेमें कहां तक स्वतन्त्र हैं? योगका उत्तर है कि हम दृढ़ संकल्प और मनकी एकाग्रतासे जगत्‌के अनुभवोंसे मुक्त हो सकते हैं। हमारे मनस्‌में एक ऐसी शक्ति निहित है जिसके माध्यमसे मनस्‌को चेष्टानुसार किसी ओर भी प्रवृत्त किया जा सकता है। मनस् पुराने संस्कारोंके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी कर सकता है। पुराने संस्कारोंकी शक्तिको पराजित कर सकना बड़ा कठिन काम है।

यदि पुराने संस्कार नष्ट नहीं होते तो उनको पराजित करनेका क्या अर्थ है? योगका उत्तर है कि कोई भी संस्कार नष्ट किया जा सकता है यदि हम मनस्‌में उसके विपरीत अवस्था उत्पन्न कर दें। इसको प्रतिपक्ष भावनाका सिद्धान्त कहते हैं। किसी बुरे विचारको उखाड़ फेंकनेके

लिए हमें उसके स्थानपर किसी अच्छे विचारको प्रतिष्ठित कर उसकी जड़ें मनस्के बहुत अन्दर तक पहुंचाकर लगातार प्रयत्नोंसे मज़बूत बनानी पड़ेंगी। हो सकता है कि कोई बुरा विचार मनस्के एक स्तरसे मिट जाय किन्तु वह गहनतम स्तरोंमें फिर भी रह सकता है और अवसर पाकर फिर उभर सकता है। योगमें बाह्य आचरणको सुधार सकनेके साथ साथ मनके विचारोंपर भी अधिकार कर सकनेकी संभावना प्रकट की गई है।

किन्तु योगका लक्ष्य मनुष्यको नैतिक भर बना देना ही नहीं है। योगी हर बन्धनसे छुटकारा पानेका आयास करता है। वह अपने मनस्के बन्धनोंसे भी मुक्त होनेकी कामना रखता है। यम और नियमद्वारा वह अपने आचरणपर अधिकार रखता है। इस प्रकार जब उसका मन पवित्र हो जाता है तब वह अपने चित्तकी वृत्तियोंको स्थिर कर उनको मिटा सकनेके लिए प्रयत्नशील होता है।[१]

जब तक मन चंचल रहे मनुष्य अपनेपर अधिकार नहीं कर सकता। मनको अचंचल करनेके लिए योगी उसको जगत्के अनेक पदार्थोंपरसे हटाकर केवल एक पदार्थपर ही एकाग्र करता है। इसे ध्यान कहते हैं। ध्यानसे मनकी चंचलता दूर हो जाती है; मन और विषयका भेद मिट जाता है। मन और विषयका भेद मिट जानेपर मन विषयाकार हो जाता है। यह समाधिकी अवस्था है। इस अवस्थामें योगीको सत्यका वास्तविक ज्ञान होता है जिसे प्रज्ञा[२] कहते हैं। समाधिकी प्रत्येक अवस्थापर योगी सत्य ज्ञानसे अनुभूत होता रहता है जिससे उसके पुराने सांसारिक संस्कार नष्ट होते रहते हैं। एक समय आता है जब वह जीवका असली स्वरूप देख सकता है।[३] यह योगकी असम्प्रज्ञात अवस्था है जिसमें चित्त[४]

---

१ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

२ ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

३ तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्।

४ योगमें चित्तका वही अर्थ है जो सांख्यमें महत्का।

से वस्तुकी धारणाका भी निरोध हो जाता है। इस अवस्थामें चित्त पुरुषको प्रकृतिसे बांध सकनेसे असमर्थ होकर प्रकृतिमें लय हो जाता है और केवल पुरुष ही विशुद्ध ज्ञानके रूपमें रह जाता है।

पुरुषके विशुद्ध ज्ञानका वह अर्थ नहीं है जो 'ज्ञान' शब्दसे साधारणतः समझा जाता है। समाधिमें जो ज्ञान होता है वह धारणारहित ज्ञान है और एक अलग ही श्रेणीका है। हम प्रज्ञाका अनुभव अपनी चेतनताकी अवस्थाओंमें स्मृतिद्वारा नहीं कर सकते, क्योंकि स्मृति स्वयं चेतनताकी एक अवस्था है।

योग ईश्वरमें विश्वास करता है इसलिए योगको सेश्वर सांख्य कहा जा सकता है। किन्तु ईश्वरकी प्राप्ति योगका लक्ष्य नहीं है। ईश्वरकी धारणा सम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँचनेका एक साधन ही है।[१] योगका ईश्वर पुरुष विशेष ही है, जगत्का रचयिता या नियन्ता नहीं है।

---

१ दे०, योग सूत्र १, २३।

पूर्व मीमांसा

मीमांसा शब्द मन्‌से निकला है। मन्‌का अर्थ है विचार करना। पूर्व मीमांसाका दूसरा नाम कर्म मीमांसा भी है क्योंकि इसमें वैदिक यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओंको व्यवहारमें लानेके नियमोंका निरूपण किया गया है। मीमांसा अपने विचारोंकी पुष्टि ब्राह्मण ग्रन्थोंसे करती है। चूंकि ब्राह्मण उपनिषदोंसे पहले आते हैं इसलिए इसका नाम पूर्वमीमांसा पड़ा है। मीमांसाका सबसे प्राचीन ग्रन्थ जैमिनिके सूत्र हैं। सूत्रोंका समय लगभग १५० संवत् पूर्व बताया जाता है। इन सूत्रोंका उद्देश्य यज्ञ-संबंधी व्याख्याओंके मतभेदोंको दूर करना था। इन सूत्रोंपर शबर स्वामीने भाष्य लिखा जिसकी व्याख्या प्रभाकर (७१५ संवत्) ने 'वृहती' और कुमारिल (७६० संवत्) ने 'श्लोकवार्तिक' नामक टीकाओंमें दो प्रकारसे की। इस प्रकार ये दोनों मीमांसाके दो संप्रदाय बना देते हैं।

जैमिनिने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दको ही प्रमाण माना था। प्रभाकर उपमान और अर्थापत्ति और कुमारिल इन पांचोंके अतिरिक्त अनुपलब्धि (अभाव) को भी प्रमाण मानता है। प्रमाण अनुभूतिको कहते हैं जो स्मृतिज्ञानसे अलग है। पूर्वज्ञानकी अपेक्षा रखनेके कारण स्मृति प्रमाण नहीं है।[1]

'देवदत्त मोटा है' और 'देवदत्त दिनमें नहीं खाता' यह दोनों कथन देखनेमें तो विरोधी लगते हैं किन्तु इनसे हम इस नतीजेपर पहुँच सकते हैं कि 'देवदत्त रातमें खाता होगा।' इसीको अर्थापत्ति कहते हैं। नैयायिक अर्थापत्तिको अनुमान प्रमाणके अन्तर्गत मानते हैं। किन्तु अर्थापत्तिसे जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका आधार व्याप्ति नहीं होती, इसलिए अर्थापत्तिको अनुमानके अन्तर्गत नहीं माना जा सकता।

---

१ दे०, कीथ, कर्ममीमांसा, पृ० २०।

कुमारिल अनुपलब्धिको भी प्रमाण मानता है। अभावका ज्ञान प्रत्यक्षसे नहीं होता। अनुमान और अर्थापत्तिसे भी अभावको नहीं जाना जा सकता। अभावका ज्ञान प्राप्त करनेका एक अलग प्रमाण मानना चाहिए। प्रभाकर अभावमें विश्वास न रखनेके कारण अनुपलब्धि प्रमाण को नहीं मानता।

हमने देखा है कि अन्य विचारधाराओंने शब्दको प्रमाण माना है। शब्द प्रमाणका महत्त्व अब तक केवल इतना ही था कि वेद ईश्वरकृत होनेसे मान्य हैं। मीमांसक वेदोंको ईश्वरकृत नहीं मानते, इसलिए यहां शब्द प्रमाणका महत्त्व कुछ और ही हो जाता है।

किसी वर्ण (शब्द) और उसके अर्थका सम्बन्ध स्वाभाविक होनेसे आवश्यक और नित्य होता है। वर्ण निरवयव और सर्वव्यापक होनेके कारण नित्य हैं। वर्ण की अभिव्यक्तिका साधन ध्वनि है किन्तु ध्वनि ही वर्ण नहीं है। वर्ण 'व्यक्ति'को न बताकर 'जाति'को बताते हैं और चूंकि जातियां नित्य हैं इसलिए वर्ण और अर्थका सम्बन्ध भी नित्य है। वर्ण और अर्थ सहकारी हैं और कालातीत होते हैं। अर्थ वर्णोंका धर्म है।[1]

किन्तु वर्णों और उनके अर्थकी नित्यतासे वेदोंकी नित्यता सिद्ध नहीं हो पाती। यदि वेद नित्य हैं तो उनमें कोईवि शेषता होगी; और वह विशेषता है वेदोंके वर्णोंका एक विशेष प्रकारका क्रम जिसे आनुपूर्वी कहते हैं। इस प्रकार मीमांसक ईश्वरकी दुहाई न देकर भाषाके एक विशेष दृष्टिकोणसे वेदोंकी नित्यता सिद्ध करते हैं। पतंजलिके मतमें वेदोंका अर्थ तो नित्य है किन्तु वर्णोंका क्रम नहीं।

वर्ण और अर्थको नित्य माननेसे वेदोंका प्रामाण्य कैसे स्थापित होता है? इसके लिए मीमांसक ज्ञानके स्वतः प्रामाण्यका आधार लेते हैं। प्रभाकर और कुमारिल दोनों ज्ञानको स्वतः प्रामाण्य मानते हैं। ज्ञानका

१ वैयाकरणके स्फोटवादके अनुसार अर्थ वर्णोंका धर्म न होकर स्फोटका धर्म है।

आकार नहीं होता और मीमांसकोंके अनुसार जिसका आकार नहीं है उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतएव ज्ञानका भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष अर्थ-विषयक होता है बुद्धि-विषयक नहीं।[1] ज्ञान (संवित्)को ज्ञानके रूपमें ही जाना जा सकता है, ज्ञेयरूपमें नहीं।[2] ज्ञानको जाना तो जा सकता है किन्तु उसका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। सौत्रान्तिक विज्ञानोंका प्रत्यक्ष और वस्तुओंका अनुमान मानते थे किन्तु यहां वस्तुओं-का प्रत्यक्ष और ज्ञानका अनुमान माना गया है।

नैयायिकोंने ज्ञानकी उत्पत्ति और उसकी यथार्थताकी परखकी कसौटीको अलग अलग माना था। उनका यह मत परतः प्रामाण्यवाद कहलाता है। मीमांसक परतः प्रामाण्यवादको नहीं मानते। उनके मतमें ज्ञानकी यथार्थताकी परखके लिए किसी प्रकारके व्यवहारकी अपेक्षा नहीं है। नैयायिकोंके अनुसार पानीके ज्ञानकी परीक्षा तभी ठीक होगी जब प्यास बुझ जाय। किन्तु प्यासका बुझ जाना भी एक प्रकारका ज्ञान है। फिर इसकी परीक्षा कैसे होगी कि प्यासका बुझना ठीक है या नहीं। इससे स्पष्ट है कि परतः प्रामाण्यवाद अनवस्था दोषकी ओर ले जाता है। ज्ञानकी उत्पत्ति और उसकी यथार्थता वास्तवमें एक ही बात है। सहीको गलत सिद्ध करनेके लिए व्यवहारकी आवश्यकता पड़ सकती है किन्तु सहीको सही बतानेके लिए व्यवहारकी क्या आवश्यकता। ज्ञान अपना प्रमाण स्वयं (स्वतः) होता है।

यदि ज्ञान स्वतः प्रामाण्य है तो भ्रम क्यों होता है? प्रभाकरके अनुसार भ्रम स्मृतिके कारण होता है और स्मृति प्रमाण नहीं है। सीप-का रंग चांदीके समान होता है इसलिए सीपके प्रत्यक्षके समय चांदीका स्मरण हो आता है और हम प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मृति ज्ञानके भेदको भूल कर ज्ञानकी इकाईको नहीं देख पाते। यही भ्रम है और प्रभाकर इसे

---

१ दे०, झा, पूर्व मीमांसा, पृ० २६, अर्थविषये हि प्रत्यक्षबुद्धिः न बुद्धि-विषये। २ संवित्तयैव हि संवित् संवेद्या न संवेद्यतया (झा, पूर्वमीमांसा)।

अख्याति कहता है। भ्रममें प्रत्यक्ष और स्मृतिके दो ज्ञान मिले रहते हैं। इनमेंसे प्रत्यक्ष ज्ञान तो स्वतः प्रामाण्य होता है किन्तु स्मृति ज्ञान नहीं।

कुमारिलकी भ्रमकी व्याख्या विपरीतख्याति कहलाती है। विपरीतख्यातिके अनुसार भ्रम सीप और चांदीके भेदको न देख सकनेके कारण नहीं होता प्रत्युत सीपको चांदी समझ लेनेके कारण होता है। भ्रममें हम अपने दोषवश एक वस्तुके गुणोंको दूसरी वस्तुमें आरोपित कर देते हैं। भ्रममें इकाई रहती है, दो अलग अलग ज्ञान नहीं।

मीमांसाका प्रधान उद्देश्य धर्मकी स्थापना करना है। मीमांसक जीवमें विश्वास रखते हैं। यदि जीव और उसकी नित्यताको न माना जाय तो वैदिकवाक्य निरर्थक हो जायँ। प्रभाकरके मतसे जीवका बोध हमें ज्ञानमें होता है। ज्ञान स्वयं प्रकाश होनेके कारण जीव और ज्ञेय वस्तुको एक साथ प्रकाशमें लाता है। इसे त्रिपुटी ज्ञान कहते हैं। बिना ज्ञानके जीव और ज्ञेय वस्तुका बोध नहीं हो सकता। गहरी नींदमें ज्ञानके न होनेसे ज्ञेय वस्तु और जीवका बोध नहीं हो पाता।

कुमारिलके मतसे जीवका प्रत्यक्ष मनस् द्वारा अहम्-प्रत्ययमें होता है। कुमारिल, प्रभाकरके विरुद्ध, जीवको एक साथ ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ही मानता है। प्रभाकर जीवको जड़ मानता है जो सिर्फ ज्ञानके प्रकाशसे ही जाना जा सकता है। कुमारिलके अनुसार ज्ञान जीवका ही पर्याय है। जीव ज्ञान-शक्ति है जो वस्तुओंका प्रत्यक्ष मनस्‌की सहायतासे करती है। जीवके मुक्त होनेपर उसमें मनस् आदिके न रहनेसे वह केवल ज्ञान-शक्तिके रूपमें ही रहता है और उसमें आनन्द, ज्ञान, सुख, दुःख आदि जो इन्द्रियोंकी सहायतासे प्राप्त होते हैं नहीं रहते। जीवकी मुक्तावस्थाका यह स्वरूप प्रभाकरको भी मान्य है।

धर्मका अर्थ है वेद-वाक्योंके आदेशका पालन करना। कुमारिल धर्म और अधर्मको क्रियाओंके नाम मानता है। यज्ञ करना धर्म है, हिंसा अधर्म। प्रभाकर धर्म और अधर्मको क्रियाओंका फल मानता है। धर्म

संचयके लिए कर्म करने पड़ते हैं। कर्म तीन प्रकारके हैं: काम्य–जो मनोकामना पूरी करनेके लिए किए जाते हैं; निषिद्ध–जिनको करनेके लिए वेद मना करते हैं; नित्य–जिनका करना आवश्यक है। नित्य कर्मोंको नैमित्तिक कर्म भी कहा जाता है। काम्य और निषिद्ध कर्मोंको छोड़कर नित्यकर्म करते रहनेसे मुक्ति मिलती है। नित्यकर्म मनुष्य-को बन्धनोंमें नहीं फँसाते। स्पष्ट है कि मीमांसा संन्यासका समर्थन नहीं करती।

कर्म धर्मसंचयके लिए किए जाते हैं। धर्मसंचयके लिए ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है। मीमांसक ईश्वरकी सत्ताको नहीं मानते, सृष्टि और प्रलयको भी नहीं मानते (न कदाचित् अनीदृशम् जगत्)। कर्मोंके फलकी प्राप्ति 'अपूर्व' द्वारा होती है, ईश्वर द्वारा नहीं। प्रभाकर 'अपूर्व' धर्म और अधर्मको कहता है और मानता है कि 'अपूर्व'का ज्ञान वेदोंसे ही हो सकता है। कुमारिल 'अपूर्व'को नित्यकर्मोंके अनुष्ठानसे उत्पन्न एक शक्ति मानता है जो अर्थापत्ति प्रमाणसे सिद्ध होती है। किए हुए कर्मोंका फल मिलता है किन्तु यज्ञादि कर्मोंका फल तुरन्त नहीं मिलता, इसलिए मानना चाहिए कि यज्ञादि कर्म कर्त्तामें एक शक्ति उत्पन्न कर देते हैं जो उन्हें बादमें फल देती है।

वेदान्त

(क) पृष्ठभूमि

वेदान्त शब्दका अर्थ है वेदोंका अन्त । वेदोंके अन्तिम भाग हैं उपनिषद्; वेदान्त उन्हींकी शिक्षाओंकी व्याख्या करता है। उपनिषद् ब्राह्मणोंके बाद आते हैं इसलिए वेदान्तको उत्तरमीमांसा भी कहते हैं।

आस्तिक चिन्ता-पद्धतिको पहले पहल सजाकर रखनेका श्रेय बादरायणकृत वेदान्त सूत्रोंको है। सूत्रोंका रचनाकाल १५० संवत् पूर्वके लगभग समझा जाता है। उपनिषदोंमें परस्पर विरोधी विचार पाए जाते हैं जिससे स्पष्ट है कि सभी उपनिषदोंमें एक ही शिक्षा नहीं है। वेदान्त सूत्रोंका मुख्य उद्देश्य यही दिखलाना है कि सारे उपनिषदोंमें एक ही शिक्षा है।[1] बादरायणने उपनिषदोंको किस प्रकार समझा था यह विवादास्पद है और इसका कारण है सूत्रोंकी क्लिष्टता जिससे उनकी व्याख्या अनेक प्रकारसे की जा सकती है। शंकर, रामानुज और अन्य विचारकोंने सूत्रोंकी व्याख्या अपने अपने दृष्टिकोणसे की है जिससे वेदान्तके अनेक सम्प्रदाय बन जाते हैं। किन्तु शंकरकी व्याख्या इतनी गम्भीर

---

१ गौड़पादने भी ८३५ संवत्के लगभग माण्डूक्य उपनिषद्पर अपनी माण्डूक्य कारिका लिखकर यह दिखानेका प्रयत्न किया कि सब उपनिषदोंकी शिक्षा एक ही है। ये गौड़पाद सांख्यकारिकापर टीका लिखनेवाले गौड़पादसे भिन्न हैं। गौड़पादने जीवका स्वरूप अदृष्ट, अग्राह्य, प्रपंचोपशम (जिसका विवर्त न हो) और अद्वैत माना है। जगत्की विभिन्नताका कारण मायाको माना है। गौड़पादने उत्पत्तिको नहीं माना है (कारिका ४।२२)। गौड़पाद बौद्ध विचारधारासे प्रभावित हैं। ये शंकरके गुरु गोविन्दके गुरु थे।

तथा ओजपूर्ण है कि आज वेदान्तसे तात्पर्य शंकरका विवचन ही समझा जाता है। वेदान्त सूत्रोंको समझनेके लिए शंकरभाष्यका अनुसरण करनेसे पहले सूत्रोंकी मुख्य प्रवृत्तिको जान लेना उपयुक्त होगा।

आस्तिक विचारधाराका मुख्य उद्देश्य बौद्धोंकी अनित्य दृष्टि (क्षणिक-वाद) का खण्डन करके नित्य दृष्टिको स्थापित करना रहा था, क्योंकि नित्य दृष्टिकी रक्षापर ही वेदोंका प्रामाण्य और ईश्वरका अस्तित्व निर्भर है। कणादने कार्यको उत्पत्तिसे पहले असत् मानकर कार्य-कारण-सम्बन्ध-से नित्य दृष्टि स्थापित नहीं की वरन् सत्ताको छह भागोंमें बांटकर 'सामान्य'से की। सामान्य नित्य और व्यापक है। द्रव्य, गुण और कर्ममें 'यह है' (इदं सत्)की प्रतीति 'सत्ता'को सिद्ध करती है।[१]

सांख्यकी प्रकृतिका परिणाम तो होता था किन्तु वह चेतन न थी। सर्वास्तित्ववादी परमाणुओंका परिणाम तो मानते थे किंतु परमाणु चेतन न थे। बौद्धोंके परमाणु क्षणिक थे किंतु कणादके नित्य। कणादने परमाणुओंके संयोग और विभागके लिए 'अदृष्ट'को माना था। किंतु अदृष्ट अचेतन होनेसे परमाणुओंमें गति उत्पन्न नहीं कर सकता था।[२] बादरायणने ब्रह्मको सत् और चित् दोनों मानकर कपिल और कणादके विरुद्ध सत्ताको चेतन माना। कपिलने प्रकृतिमें स्वभावतः प्रवृत्ति मानी थी। बादरायणने कहा कि प्रवृत्ति अचेतनका धर्म नहीं है और चूंकि प्रकृति अचेतन है इसलिए उसमें प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती।[३] और बिना प्रवृत्ति माने परिणाम नहीं हो सकता इसलिए सत्ताको चेतन होना आवश्यक है।

बादरायणने यह भी प्रमाणित करनेकी चेष्टा की कि बिना किसी नित्य वस्तुको माने परिणामका होना असम्भव है। कार्यकी उत्पत्तिके

---

१ सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता (सूत्र १।२।७)।

२ उभयथापि न कर्म अतस्तदभावः (वेदान्तसूत्र, २।२।१२)

३ दे०, वेदान्त सूत्र २।२।२।

क्षणमें कारणका निरोध हो जाता है और कार्यके प्रति उसका हेतुभाव नहीं रहता। यदि यह माना जाय कि कारण कार्यकी उत्पत्तिके क्षण तक रहता है तो इससे कारण और कार्यका पूर्वापर भाव नहीं रहता और क्षणिकवादका भी खण्डन हो जाता है।[1]

परिणाम और नित्यदृष्टि दोनों आपसमें विरोधी हैं क्योंकि नित्यताका अर्थ ही कूटस्थता या परिणामका न होना है। बौद्धोंका विज्ञान प्रतीत्य-समुत्पन्न होनेसे परिवर्तनशील था और बादरायणका ब्रह्म था कूटस्थ। किंतु बादरायणने उसे 'जन्माद्यस्य यत:' और 'आत्मकृतेः परिणामात्'[2] बताकर परिणामशील मान लिया था। ब्रह्मको कूटस्थ मानना और साथ ही साथ उसका परिणाम भी मानना असंगत है, इसलिए ब्रह्मके परिणामकी नए ढंगसे व्याख्या करनेकी आवश्यकता पड़ी। शंकरने बादरायणकी इस गलतीको समझकर परिणामवादको विवर्तवादमें परिणत किया, क्योंकि परिणामवाद माननेसे नित्यताकी सिद्धि करना असम्भव है।

(ख) अद्वैत

अद्वैत वेदान्तके प्रतिभाशाली प्रतिपादक शंकरका समय ८४५ से ८७७ संवत् बताया जाता है। शंकरने वेदान्तसूत्र और दश उपनिषदोंपर भाष्य लिखे हैं। शंकरके भाष्यपर वाचस्पति मिश्रने 'भामती' और पद्मपादने 'पंचपादिका' लिखी है। 'पंचपादिका'पर प्रकाशात्मन्‌ने 'विवरण' लिखा है। शंकरका आविर्भाव भारतीय इतिहासकी एक महान् घटना है। शंकरके समय तक भारतीय संस्कृति तथा साहित्यकी सर्वांगीण उन्नति हो चुकी थी। भारतीय साहित्यको कालिदासका माधुर्य, भवभूतिका ओज, भारविका अर्थ-गौरव तथा अश्वघोषका संगीत मिल चुका था। शंकरने अपने गाम्भीर्यका योग देकर भारतीय साहित्यको विकासकी

---

१ उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्। असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा (सूत्र २।२।२०।२१)।

२ दे०, सूत्र १।१।२ और १।४।२६।

पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। सत्यमें मानवी इच्छाओं तथा आशाओंका कोई स्थान नहीं है। शंकरका तटस्थ दृष्टिकोण भारतीय मस्तिष्कके साहस और निर्भीकताका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

हमे अपने सब अनुभवोंमें 'जीव'का आभास मिलता है। हम जीवकी सत्तामें सन्देह नहीं कर सकते[1] क्योंकि सन्देह करना भी सन्देह करनेवालेका स्वभाव ही है।[2] जीव ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी। इससे हम इस नतीजेपर पहुँचते हैं कि जीव दो तत्त्वोंसे मिलकर बना है : अन्तःकरण और साक्षी। जीव यदि दो तत्त्वोंका मिश्रण न होता तो प्रत्येक अनुभवमें उसका आभास मिलता। किंतु नींदमें जीवका आभास नहीं मिलता। अतएव स्वीकार करना पड़ता है कि जीव दो तत्त्वोंसे मिलकर बना है। जाग्रतावस्थामें हमें जो कुछ भी अनुभव होता है नींदमें उसका निरोध हो जाता है। किन्तु नींदमें फिर भी कोई ऐसी वस्तु बनी रहती है जिससे हमें 'नींदमें जाग्रतावस्थाके अनुभवोंका निरोध हो गया था' यह ज्ञान मिलता है। अद्वैतमें मनस्‌को इन्द्रिय नहीं माना गया है। मनस्, बुद्धि, अहंकार और चित्त एक ही अन्तःकरणके कार्य और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं। अन्तःकरण ही संशय करनेपर मनस्, निश्चय करनेपर बुद्धि, गर्व करनेपर अहंकार और स्मरण करनेपर चित्त कहलाता है। अन्तःकरण भौतिक और तेजस् प्रधान है। नींदके अतिरिक्त वह और सब दशाओंमें क्रियाशील रहता है।

साक्षी सांख्यके पुरुषकी भांति चेतन तत्त्व है। साक्षी और अन्तःकरणकी मिश्रित अवस्था (जीव) ही जानने, संकल्प और अनुभव करनेकी शक्ति है। यह मिश्रित अवस्था मुक्ति होने तक बनी रहती है। मुक्ति होनेके बाद अन्तःकरण अपने कारण मायामें लय हो जाता है और साक्षी अपना साक्षीपन खोकर ब्रह्म हो जाता है। जीव अनुव्यवसायमें ज्ञेय वस्तु

---

१ सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहम् अस्मीति (शंकर भाष्य; १।१।१)

२ य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम् (शंकर भाष्य; २।३।७)

बन सकता है क्योंकि उसमें ज्ञेय पदार्थ निहित रहता है। किन्तु साक्षी ज्ञेय नहीं बन सकता क्योंकि वह ज्ञेयतामें चेतनताका शुद्ध तत्त्व है। साक्षी स्वप्रकाश है। उसको जाननेके लिए किसी ज्ञानकी अपेक्षा नहीं होती। उसकी उपस्थिति ही उसका ज्ञान है।[1] उसकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि अन्य वस्तुओंकी सिद्धि उसीकी अपेक्षासे होती है।[2]

स्वप्नमें जो ज्ञान होता है उसमें इन्द्रियोंका सहयोग नहीं होता।[3] स्वप्नमें स्थूल शरीरका सम्पर्क भी नहीं होता। फिर भी लगता है कि इन्द्रियां सहयोग दे रही हैं और स्थूल शरीर उपस्थित है। किन्तु स्मृतिमें ऐसा नहीं होता। स्वप्नमें अन्तःकरण इन्द्रियोंकी सहायताके विना ही अपना काम करता रहता है। स्वप्नके अनुभवमें सत्यकी सारी विशेषताएँ—देश, काल, कारण, अवाध—तो रहती हैं, किन्तु इनके होते हुए भी स्वप्नका अनुभव अपने आप अभिव्यक्त नहीं हो पाता।[4] उसे अपनी अभिव्यक्तिके लिए जाग्रतावस्थाकी अपेक्षा होती है। जाग्रतावस्थाके दृष्टिकोणसे स्वप्नके सारे अनुभव असत्य होते हैं; किन्तु उनके असत्य होनेकी चेतनता फिर भी सत्य रूपमें बनी रहती है। जाग्रतावस्थामें स्वप्नके पदार्थ तो असत्य हो जाते हैं किन्तु उनके असत्य हो जानेकी चेतनता स्वयं असत्य नहीं हो जाती।[5]

---

१ अपरोक्षत्वात् प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः (शंकर भाष्य; १।१।१)

२ आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्राग् एव प्रमाणादिव्यवहारात् सिद्ध्यति (शंकरभाष्य; २।३।७)।

३ इन्द्रियाजन्यविषयगोचरापरोक्षान्तःकरणवृत्त्यवस्था स्वप्नावस्था—(वेदान्त परिभाषा)

४ नहि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यबाधश्च स्वप्ने सम्भाव्यते (शंकरभाष्य; ३।२।३)

५ दे०, शंकरभाष्य; २।१।१४।

नींदमें केवल साक्षी और अविद्या रह जाते हैं। साक्षी और अविद्या की इस उपस्थितिको कारण-शरीर कहते हैं। स्वप्नरहित निद्रावस्थामें जीव अचेतन प्रतीत होता है। उसके अचेतन प्रतीत होनेका कारण चेतनता की अनुपस्थिति नहीं है किन्तु चेतनताके विषयोंकी अनुपस्थिति है। प्रकाश-की प्रतीति तब तक नहीं हो सकती जब तक वे वस्तुएँ उपस्थित न हों जिन्हें वह प्रकाशित करता है, प्रकाशका अपना स्वभाव अपहित नहीं हो जाता।[१] साक्षी और अविद्याके रह जानेसे नींदका अनुभव विशिष्ट हो जाता है जिसमें न तो ज्ञाता ही होता है और न चेतनताकी अवस्थाएँ ही। इस अवस्थामें सविकल्पक ज्ञानकी पूरी अनुपस्थिति रहती है। सुषुप्तावस्था में जीव अपने उस शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लेता है जो जाग्रति और स्वप्नमें उपाधियोंसे युक्त होनेसे दूषित रहता है।[२]

उपाधि उसे कहते हैं जिसके आरोपणसे कोई वस्तु सीमित या परि-च्छिन्न हो जाय। आकाश व्यापक है किन्तु घटमें जो आकाश है वह घट-की उपाधिसे सीमित हो जाता है। नींदमें अविद्यासे सम्बन्धित रहनेके कारण साक्षी परिच्छिन्न रहता है जिससे नींदमें वैयक्तिकता बनी रहती है। नींदमें अविद्या सत्यके सच्चे स्वरूपको ढँके तो रहती है किन्तु उसको जाग्रत और स्वप्नावस्थाकी भांति नाम और रूपमें विभक्त नहीं करती।

प्रत्यक्षके समय अन्तःकरणकी वृत्ति वस्तुका आकार ग्रहण कर लेती है। वृत्तिके विषयाकार हो जानेके बाद साक्षी अपनी चेतनतासे वृत्तिको प्रकाशित कर देता है। इस प्रकार ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञानमें वृत्ति तो संयोगात्मक है किन्तु चेतनता नित्य। ज्ञान या तो अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) होता है या परोक्ष। वाह्य वस्तुओंका ज्ञान होनेके समय वृत्ति बहिर्मुखी

---

१ **विषयाभावादियमचेतयमानता न चैतन्याभावादिति। यथा विषयाश्रयस्य प्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपाभावात् तद्वत् (शंकरभाष्य, २।३।१८)**

२ **दे०, शंकरभाष्य; ३।२।७।**

हो जाती है और आन्तरिक अवस्थाओं अर्थात् सुख-दुःख आदिके अनुभवके समय अन्तर्मुखी।[1]

अद्वैतके अनुसार ज्ञान कभी भी निर्विषयक नहीं होता। भ्रममें भी ज्ञेय वस्तु विद्यमान रहती है। भ्रम व्यक्तिको ही होता है। साधारण ज्ञानकी वस्तुएँ सबके लिए समान होती हैं। भ्रमको अद्वैतमें अध्यास कहा गया है। अध्यासका अर्थ किसी वस्तुका असली स्वरूप न देख सकना है। अध्यासमें दो अलग अलग स्तरकी वस्तुओंको मिलाकर उन्हें समान समझ लिया जाता है जिससे सत्यता ज्ञात नहीं हो पाती। जिस प्रकार स्मृतिज्ञानमें ज्ञानका विषय उपस्थित नहीं होता उसी प्रकार अध्यासमें ज्ञानका विषय अपने सच्चे रूपमें उपस्थित नहीं होता।[2]

अद्वैतमें सत्पदार्थका अर्थ बड़े महत्त्वका है। किसी पदार्थका भाव उसका सत् होना नहीं है। सत्ता किसी पदार्थके सत् होनेकी कसौटी नहीं है। सत्पदार्थ वह है जिसका तीनों कालमें बाध न हो और असत् वह है जिसकी तीनों कालमें प्रतीति न हो। सत्य वही है जिसका बाध न हो।[3]

सीपमें चांदीकी जो प्रतीति होती है उसे न सत् कहा जा सकता है और न असत्। सीपमें चांदीका अध्यास सत् नहीं है क्योंकि बादमें यथार्थ ज्ञानसे सीपमें चांदीका बाध हो जाता है; सीपमें चांदीका भ्रम असत् भी नहीं है क्योंकि उसकी प्रतीति होती है। भ्रमकी अब तक जितनी व्याख्याएँ—असत्ख्याति, आत्मख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति, विपरीतख्याति आदि—की गई हैं अद्वैत उन्हें दोषपूर्ण मानता है और भ्रमकी व्याख्या अनिर्वचनीय ख्यातिसे करता है।

---

१ दे०, वेदान्तपरिभाषा।

२ स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः (वेदान्तभाष्य भूमिका)।

३ अबाधितानधिगतासंदिग्धबोधजनकत्वं हि प्रमाणत्वं प्रमाणानाम् (भामती; १।१।४।

साधारणतः अनिर्वचनीयका अर्थ है जिसका वर्णन न हो सके। यहां अनिर्वचनीयका अर्थ है किसी वस्तुको सत् या असत् न कह सकना। सत् और असत् दोनोंसे विलक्षण वस्तुएँ अनिर्वचनीय हैं।

हम देख चुके हैं कि नैयायिकोंका असत्कार्यवाद और सांख्यका सत्कार्य-वाद दोनों ही सिद्धान्त दोषपूर्ण हैं। अद्वैतका मत है कि कार्य उत्पत्तिसे पहले न तो सत् होता है और न ही असत्। वह वस्तुतः अनिर्वचनीय होता है। कार्यके अनिर्वचनीय होनेको विवर्तवाद कहते हैं। उपादान कारण-का सदृश कार्य परिणाम कहलाता है और असदृश कार्य विवर्त।[1] दूधसे दहीका बनना सदृश कार्य है और रस्सीमें सांपकी प्रतीति असदृश कार्य। दूध-दहीकी सत्ता और रस्सी-सांपकी सत्ताकी श्रेणीमें भेद है। दहीकी सत्ता देश और कालमें होती है और सांपकी सत्ता केवल कल्पनामें। देश और कालमें होनेवाली सत्ताको व्यावहारिक सत्ता कहा जाता है। सत्ता जब देश और कालमें न होकर केवल कल्पनामें ही होती है तब उसे प्राति-भासिक सत्ता कहते हैं।

सत् वह है जिसका कभी बाध न हो। यद्यपि व्यावहारिक सत्ताकी वस्तुओंका बाध होता रहता है फिर भी हम उनमें सत्ताका आरोप करते हैं। यह अध्यास है अर्थात् हम सत्ताका आरोप एक ऐसे स्तरपर भी करते हैं जहां वस्तुओंका बाध होता रहता है। जिस प्रकार सीपमें चांदीकी प्रतीति सीपका अपना रूप नहीं है उसी प्रकार जगत्में सत्ताकी प्रतीति भी सत्ताका अपना रूप नहीं है। जगतकी वास्तविक सत्ता है तो नहीं किन्तु उसकी प्रतीति जगत्में उसी प्रकार होती है जिस प्रकार रस्सीमें सांपकी। लेकिन जगत्में सत्ताकी प्रतीति और रस्सीमें सांपकी जो प्रतीति होती है उसमें अन्तर है। रस्सीमें सांपका विवर्त एक ऐसा भ्रम है जो रस्सीके यथार्थ ज्ञान होते ही दूर हो जाता है। किन्तु जगत्में सत्ताकी प्रतीति एक ऐसे सार्वभौमिक भ्रमके कारण होती है जो हमारे अनुभवकी

---

१ **कारणस्वलक्षणान्यथाभावः परिणामः तद्विलक्षणो विवर्तः।**

पहली शर्त है। जगतके अनुभवके मूलमें इसी सार्वभौमिक भ्रमकी उपस्थिति होनेसे अद्वैत जगत्को अनिर्वचनीय, मिथ्या और सापेक्षिक सत्तावाला कहता है। व्यावहारिक सत्ता, जिसका बाध होता रहता है, एक ऐसी सत्ताकी ओर इशारा करती है जिसका बाध न हो : और वह है पारमार्थिक सत्ता।

पारमार्थिक सत्ताको अद्वैत ब्रह्म कहता है। ब्रह्मकी सत्ता ही एक ऐसी सत्ता है जिसका कभी बाध नहीं होता। अद्वैतकी सत्पदार्थकी कसौटी-के अनुसार ब्रह्म ही सत्पदार्थ है। शेष सब पदार्थ ऐसे हैं जिन्हें न तो सत् कहा जा सकता है—क्योंकि उनका बाध हो जाता है—और न ही असत् क्योंकि उनकी प्रतीति होती है। जगत्के पदार्थ मिथ्या हैं। अद्वैत जब जगत्को मिथ्या घोषित करता है तो उसका यह अभिप्राय नहीं है कि जगत् असत् या स्वप्नवत् है।[१] सही ज्ञानसे पता चलता है कि कोई वस्तु उस अन्य वस्तुसे आंशिक या पूर्णरूपसे संवन्धित नहीं थी जिसमें उसकी प्रतीति हो गई थी। रस्सीमें सांपका भ्रम रस्सीसे किसी प्रकार न तो सम्बन्धित था, न है और न होगा।[२] इसी प्रकार सत्ता न तो जगत्से सम्बन्धित थी, न है और न होगी। भ्रम वह है जिसकी सत्ता किसी वस्तुमें प्रतीत तो होती है किन्तु वस्तुतः होती नहीं।[३] यहांपर यह आक्षेप उठाया जा सकता है कि किसी वस्तुका एक ही समय 'भाव' और 'अभाव' दोनों कैसे सम्भव हैं? किन्तु यहां 'अभाव'का एक विशेष अर्थ है। अभावका अर्थ उस वस्तुके 'भाव'को अस्वीकृत करना है जो तीनों कालमें बाधित रहती है। अतएव यहां 'भाव' और 'अभाव'की इस विलक्षण उपस्थिति पर यह आक्षेप नहीं किया जा सकता। जगत्को मिथ्या कहनेका यही आशय है कि उसकी सत्ता अनिर्वचनीय है और पारमार्थिक सत्ताके दृष्टि-

१ दे०, शंकरभाष्य; २।२।२९।

२ प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्।

३ स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्।

कोणसे उसका कोई महत्व नहीं है। जिस प्रकार सांप रस्सीका विर्वत है उसी प्रकार जगत् ब्रह्मका विवर्त है। जिस प्रकार व्यावहारिक सत्ताके बिना प्रातिभासिक सत्ता नहीं हो सकती उसी प्रकार पारमार्थिक सत्ताके विना व्यावहारिक सत्ता भी नहीं हो सकती ।

शंकरने विज्ञानवादियोंके प्रतिकूल वाह्य जगत्की सत्ताको माना है। प्रत्यक्ष विज्ञानोंका न होकर विषयोंका होता है। विज्ञानवादियोंने सदा एक साथ पाई जानेवाली वस्तुओंमें तादात्म्य सम्बन्ध मान लिया था। नीलेरंग और उसकी धारणामें सहोपलम्भ नियम होनेसे विज्ञानवादी नीलेरंग और उसकी धारणामें तादात्म्य समझते थे (सहोपलम्भनियमाद् अभेदो नीलतद्धियोः) और इसी बलपर वाह्य सत्ताको अस्वीकार कर देते थे। शंकरके मतसे नीलारंग और उसकी धारणा दो अलग अलग चीज़ें हैं और उनमें तादात्म्य नहीं है। हम नीलेरंगका प्रत्यक्ष करते हैं, हमें नीलेरंगकी धारणा होती है। किन्तु हमारा प्रत्यक्ष या हमारी धारणा नीलेरंगकी नहीं हो जाती। जिस वस्तुका प्रत्यक्ष हमें होता है उस वस्तुकी वाह्य सत्ता होती है। स्तम्भ, दीवार, घट और पटकी वाह्य सत्ता है (उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्ययं वाह्योऽर्थः स्तम्भः, कुड्यं, घटः, पटः इति)। वस्तुओंको इन्द्रियोंके संयोगसे देखा जाता है और हम यह नहीं कह सकते कि उनका प्रत्यक्ष नहीं होता या उनकी सत्ता नहीं है।[1] वाह्य जगत्की वस्तुएँ हमारे प्रत्यक्ष या हमारी धारणासे सर्वथा भिन्न होती हैं क्योंकि कोई यह नहीं कह सकता कि उसका दीवार या स्तम्भका प्रत्यक्ष ही दीवार या स्तम्भ है।[2] चेतनता और उसके विषय परस्पर भिन्न होते हैं—तस्माद् अर्थज्ञानयोरभेदः ।

---

१ इन्द्रियसन्निकर्षेण स्वयं उपलभमान एव वाह्यं अर्थं नाऽहम् उपलभे न च सोऽस्तीति ब्रुवन कथं उपादेयवचनः स्यात् ।

२ यतः उपलब्धिव्यतिरेकोऽपि बलाद् अर्थस्य अभ्युपगन्तव्य उपलब्धेर एव; न हि कश्चिद् उपलब्धिम् एव स्तम्भः कुड्यं च इति उपलभते ।

अद्वैतमें सत्ता (ब्रह्म)की चेतनतापर बड़ा जोर दिया गया है। चेतन-तत्वके बिना जगत् नेत्रहीन हो जाता है। चेतनताकी सिद्धि प्रमाणों आदिसे नहीं हो सकती। आगन्तुक वस्तुका ही निराकरण किया जा सकता है, अपने स्वरूपका नहीं। चेतनतत्व तो निराकरण करनेवालेका ही अपना स्वरूप होता है। आग अपनी गर्मीका निराकरण नहीं कर सकती।[1] जिस चेतनतत्वसे सारे प्रमाणोंकी सिद्धि होती है वह स्वयं प्रमाणोंसे कैसे सिद्ध हो सकता है?[2] चेतनतत्वका आवश्यक गुण है आनन्द। जो वस्तु अपनी सत्तामात्रसे ही परार्थताको छोड़ देती है उसे आनन्द कहते हैं। जगत्के पदार्थोंकी इच्छा आनन्द पानेके लिए की जाती है किन्तु आनन्द पानेकी इच्छा किसी अन्य वस्तुके लिए नहीं की जाती। वह तो आनन्दके लिए ही की जाती है। सब वस्तुएँ आनन्दके लिए हैं किन्तु आनन्द स्वयं किसीके लिए नहीं है। इसी प्रकार सब पदार्थ चेतनतत्वके लिए हैं किन्तु चेतनतत्व किसीके लिए नहीं है।[3] सत्ताका अर्थ है चेतनता और चेतनताका अर्थ है आनन्द। यही अद्वैतका ब्रह्म है जिसका स्वरूप सत् चित् और आनन्द है। चेतनतत्वमें दुःख आदिकी जो प्रतीति होती है वह अध्यासके कारण होती है।

चेतनतत्व स्वप्रकाश है। स्वप्रकाश होनेका अर्थ है चेतनताकी सारी क्रियाओंमें सदा उपस्थित रहना किन्तु चेतनताका विषय न बनना।[4] चेतनताका विषय न होनेसे ब्रह्मका वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि वर्णन करनेका अर्थ ज्ञानका विषय बना लेना है। शंकरने इसीलिए ब्रह्मको 'एकता' न कहकर 'अद्वैत' कहा है। उसका आभास 'नेति' 'नेति' कहकर

---

१ आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते (वेदान्त भाष्य; २।३।७)।

२ यतोराद्धि प्रमाणानां स कथं तैः प्रसिध्यति।

३ दे०, संक्षेप शारीरक, १।२४।

४ अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्।

ही हो सकता है।[१] जगत् के सब पदार्थोंकी सत्तासे इनकार करके ही ब्रह्म की सत्ताका कुछ अनुमान किया जा सकता है। ब्रह्म जगत्‌की अनेकताके मलमें एकता नहीं है क्योंकि एकता और अनेकता दोनों ही सापेक्षिक हैं और एकके आधारपर दूसरेकी सत्यता निर्धारित नहीं की जा सकती। एकता और अनेकता दोनों ही समानरूपसे प्रातिभासिक हैं और ब्रह्म उनसे परे उनकी अप्रातिभासिक पृष्ठभूमि है। ब्रह्म 'केवल' एकता नहीं है क्योंकि 'केवल' एकता आकाशकुसुम है। वाचस्पतिके मतसे शंकरने ब्रह्ममें 'अनेकता'को अस्वीकार किया है किन्तु 'एकता'का प्रतिपादन नहीं किया।[२] ब्रह्म उपाधिशून्य शुद्ध चेतनतत्वं है।

यदि ब्रह्म ही सत्य है तो यह जगत् कैसे और कहांसे उत्पन्न हुआ ? भेदहीनसे भेदकी रचना कैसे हुई ? अद्वैतका उत्तर है कि भेदका कारण माया या अविद्या है।[३] नाम और रूपकी उपाधिसे युक्त होकर ही भेद-हीन भेदवाला हो जाता है। माया अनिर्वचनीय है, अनादि है और इस अर्थमें भावरूप है कि उसका अभाव नहीं है।[४] माया और अविद्यामें अन्तर है। माया 'एक'को 'अनेक' करके दिखानेवाला सिद्धान्त है।[५] अविद्या ज्ञानपर आवरण डाले रहती है।[६] मायाको मिथ्या ज्ञान या विद्याका अभाव नहीं कहा जा सकता। अनिर्वचनीय और अनादि होनेसे माया 'द्रव्य' नहीं है। द्रव्य न होनेसे माया समवायिकारण भी नहीं हो सकती। मायाके स्वरूपको मायाकृत कार्योंके स्वरूपसे ही समझा जा

---

१ दे०, शंकरभाष्य; ३।२।२२।

२ दे०, भामती, २।१।१४।

३ दे०, शंकरभाष्य; १।३।१९।

४ अनादिभावरूपत्वे सति।

५ दे०, शंकरभाष्य; १।३।१९।

६ एकस्मिन्नपि वस्तुनि विक्षेपप्रध्यानेन मायाऽच्छादनप्रध्यानेनाविद्येति (विवरणप्रमेयसंग्रह)

सकता है। उपादान कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। असत् कार्य सत् उपादान कारणका परिणाम नहीं हो सकता। अभावात्मक और क्षमतारहित वस्तु उपादान कारण नहीं हो सकती। जगत्के पदार्थ मिथ्या हैं इसलिए उनका कारण न तो वह वस्तु हो सकती है जिसका अभाव हो और जो असत् हो और न ही वह जो सत् हो। अतएव जगत् की उत्पत्तिके लिए किसी ऐसे कारणको मानना पड़ता है जो न सत् हो और न असत्।[१] यही माया है। जगत् ब्रह्मका विवर्त है और मायाका परिणाम।

मायाकी सत्ता प्रातीतिक है। माया और ब्रह्ममें कोई सम्बन्ध नहीं है। मायाका ब्रह्मपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मायाका प्रभाव केवल व्यक्तिपर ही पड़ता है। वह व्यक्तिमें ही दोष उत्पन्न करती है। नदीकी लहरोंमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब टुकड़े टुकड़े होकर दिखाई पड़ता है तथापि उससे चन्द्रमापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। देखनेवाला ही उसे खण्डितरूपमें देखता है।[२] जिस प्रकार घटकी उपाधिसे आकाश परिच्छिन्न हो जाता है उसी प्रकार मायाके कारण ब्रह्म भी सीमित और नाम रूपोंकी अनेकता लिए हुए प्रतीत होने लगता है। जगत् देश और कालके स्तरपर ब्रह्मका अनुवादमात्र है। जिस प्रकार मौलिक अपनी सत्ताके लिए अनुवादपर आश्रित नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्म भी अपनी सत्ताके लिए जगत्पर आश्रित नहीं है।

मृगमरीचिकाके भ्रममें हम पानी और उसमें पेड़ों आदिकी उलटी परछाईं देखते हैं। ऐसा प्रकाशकी किरणोंके कारण होता है। हवाके विभिन्न तापक्रमपर गर्म स्तरोंपरसे गुज़रती हुई किरणें हमारी आंखोंके सामने दूर नीले आकाशका प्रतिविम्ब धरतीपर डालती हैं। पानी और

---

१ दे०, न्यायमकरन्द; पृ० १२३।

२ दे०, शंकरभाष्य; २।१।३१।

आकाशका रंग एक होनेसे हम धरतीपर आकाशके प्रतिबिम्बको आसानी से पानी समझ लेते हैं, क्योंकि धरतीपर पानीका होना और आकाशका न होना हमारे पूर्व अनुभवसे सिद्ध है। दूसरे वस्तुओंका उलटा प्रतिबिम्व पानीमें ही पड़ता है। स्पष्ट है कि भ्रममें हमारा मस्तिष्क पूर्व अनुभवोंकी प्रेरणापर काम करता है। भ्रमका समाधान होनेपर जब वास्तविकता का ज्ञान होता है तब यह जानकर कि भ्रमका कोई वाह्यगत आधार नहीं था और वह हमारे मस्तिष्कके प्रक्षेपणके कारण था हमें एक सुखद कौतूहल होता है और हम भ्रमको कोई महत्त्व नहीं देते।

रस्सी और सांपके भ्रममें हमारे मस्तिष्कमें रस्सीकी एक धुंधली रूपरेखा पहलेसे ही विद्यमान रहती है। प्रकाशके अभावसे हम रस्सीको पूर्णतया नहीं देख पाते और हमारे मस्तिष्कके अन्दर सांपकी धारणा, जो रस्सीकी धारणासे अधिक स्पष्ट और तीव्र होती है, अँधेरेमें रस्सीकी धुंधली रूपरेखापर आरोपित हो जाती है। वास्तविक ज्ञान होनेपर और यह जानकर कि हमारा मस्तिष्क पहले सीखी हुई आदतोंके अनुसार किस प्रकार तुरन्त धारणा वना लेता है हमें फिर सुखद कौतूहल होता है।

ललित-कला—कविता, चित्र, नाटक—में हम दुखद दृश्य देखकर दुखी ही नहीं होते उसमें रस भी लेते हैं। कला हमारी भावनाओंको अवैयक्तिकरूपमें उपस्थित करती है जिनसे हमारा कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता। प्रत्यक्ष भ्रममें हम कुछ देरतक भ्रमको भ्रम नहीं समझते किन्तु कला द्वारा दृश्यों या वस्तुओंकी भ्रामक उपस्थितिको हम पहलेसे ही जानते हैं। ललित कलाओं द्वारा प्रस्तुत भ्रममें हमारे स्थायीभाव जाग्रत होकर कलाके संकेतों और मुद्राओंपर आरोपित हो जाते हैं। यही कारण है कि हम कला द्वारा प्रस्तुत भ्रममें रस और आनन्द लेते हैं।

इससे हमारे मस्तिष्ककी दो विशेषताओंका पता चलता है। एक तो हमारा मस्तिष्क अर्थपूर्ण भावनाओंकी कल्पनाओंका प्रक्षेपण कर सकता है जो वाह्यता लिए हुए लगती हैं। दूसरे वह उन प्रक्षेपित कल्प-

नाओंमें, जब उनकी वाह्यता भ्रम सिद्ध हो जाती हैं, रस और आनन्द भी लेता है।

जगत्की वाह्य कटुतासे क्षण भरको मुक्त हो सकनेके लिए मनुष्यने सदासे कला—कविता, संगीत, चित्रकारी, नृत्य, नाटक—का सहारा लिया है। वह कला साधनामें वस्तु-जगत्की वाह्य कठोरतासे कुछ देरके लिए उन्मुक्त होकर अपने अन्तर्जगत्के स्वच्छन्द वातावरणमें विचरण करता है, उसमें रस लेता है। उस दशामें उसे जगत्की कटु वाह्यता तुच्छ लगती है और वस्तु जगत् भी एक सार्वभौमिक भ्रम सा ही प्रतीत होता है। क्या इस अनुभवके पीछे कोई गम्भीर तथ्य नहीं हो सकता ?

हो सकता है। प्रत्यक्ष भ्रम हमारे मस्तिष्ककी विशेषताओंके कारण होता है। किन्तु सार्वभौमिक भ्रमका कारण कोई समष्टिगत मस्तिष्क ही हो सकता है क्योंकि जगत्की सत्ता किसी व्यक्ति विशेषके मस्तिष्कपर निर्भर नहीं है। वह समष्टिगत मस्तिष्क प्रत्येक व्यक्तिके मस्तिष्कमें व्याप्त है और यदि व्यक्ति अपने उपाधि जनित व्यक्तित्वको नष्ट कर दे तो वह उस समष्टिगत मस्तिष्कको प्राप्त कर सकता है। यह कलात्मक अनुभवसे स्पष्ट है।

कला-वस्तुओंकी सृष्टिका मुख्य प्रयोजन अपनी सृजन शक्तिका प्रदर्शन करना और अपनी इस क्षमतामें रस लेना है। जगत् समष्टिगत मस्तिष्क के प्रक्षेपणका परिणाम है। प्रत्यक्ष-भ्रम हमारे पूर्वअनुभवोंपर आधारित होता है और उसका ज्ञान जगत्की वाह्यताकी अपेक्षासे होता है। किन्तु समष्टिगत मस्तिष्क द्वारा प्रक्षेपित भ्रम—जगत्—न तो उस मस्तिष्कके पूर्व अनुभवोंपर आधारित होता है और न ही वाह्यता पर। समष्टिगत् मस्तिष्कमें पूर्वअनुभव और वाह्यता माननेपर अनवस्था दोष हो जाता है। समष्टिगत मस्तिष्कमें कलात्मक रस मौलिक रूपसे विद्यमान रहते हैं और उसमें उनको प्रक्षेपित करनेकी शक्ति और अपने प्रक्षेपणके प्रदर्शन में रस और आनन्द लेनेकी क्षमता होती है। ऐसे समष्टिगत मस्तिष्कको

अद्वैतमें ईश्वर कहा गया है। जगत् ईश्वरका प्रक्षेपण है और उसकी इस प्रक्षेपण लीलाका प्रयोजन रसानुभूति है। चूंकि ईश्वर—समष्टिगत मस्तिष्क—हममें व्याप्त है इसलिए हम अपनी उपाधियोंको नष्ट कर ईश्वररूप हो सकते हैं और जगत्को लीला समझकर उसमें रस और आनन्द ले सकते हैं। अद्वैतका जगत् विषयक यह दृष्टिकोण भारतीय इतिहासकी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस दृष्टिकोणका भारतीय इतिहास पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ा यह इस पुस्तकके क्षेत्रके बाहरका विषय है।

कारण या कार्यरूपमें जगत्की सत्ता ईश्वरपर आधारित है। ईश्वर सगुण है और कार्य-ब्रह्म है। मायाकी उपाधिसे ब्रह्म ही ईश्वर बन जाता है।[१] ईश्वर जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। जिस तरह एक ही पृथिवीसे नाना प्रकारकी वस्तुओंकी उत्पत्ति होती है उसी तरह ईश्वरसे जीवों और कार्योंकी अनेकताकी उत्पत्ति होती है[२]। एकसे अनेक होनेमें ईश्वरकी एकतापर आघात नहीं होता। जादूगर अपनी माया से उत्पन्न की गई वस्तुओंसे स्वयं प्रभावित नहीं होता।[३] ईश्वर अविद्यासे अछूता रहता है।[४]

ब्रह्म अविद्याकी उपाधिसे ईश्वर हो जाता है। वही ब्रह्म चेतनता या बुद्धिपर प्रतिबिम्बित होकर जीव बन जाता है। यह सिद्धान्त आभास-वाद कहलाता है।[५] आभासवादके अनुसार प्रतिबिम्ब अपने आपमें ही असत्य होता है। जीव और जगत् अविद्यामें सत्यका प्रतिबिम्ब हैं। अविद्याके निरोधसे प्रतिबिम्बोंका भी निरोध हो जाता है। सत्य बिम्ब

---

१ दे०, शंकर, छांदोग्य उप० भाष्य; ३।१४।२।

२ दे०, शंकरभाष्य; २।१।२३।

३ दे०, वही; २।१।६।

४ दे०, वही; ३।२।६।

५ दे०, शंकर, बृहदा० उप० भाष्य; २।४।१२।

बिम्ब सत्य है। इस सिद्धान्तको बिम्बप्रतिबिम्ववाद कहते हैं।[1] किन्तु यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है। नाम-रूपरहित वस्तुका प्रतिबिम्ब ही क्या हो सकता है ? इस दोषसे बचनेके लिए यह माना गया है कि बिम्ब और प्रतिबिम्बमें कोई भेद नहीं है। इसे बिम्बप्रतिबिम्वाभेदवाद कहते हैं। जो 'उपाधि' और 'प्रतिबिम्ब'की धारणाको नहीं मानते[2] उनका मत है कि जीव ही अपने स्वभावसे अनभिज्ञ कूटस्थ ब्रह्म है। शंकरका रुझान भी इधर ही है। वैयक्तिक चेतनता ब्रह्मकी अनिर्वचनीय अभिव्यक्ति है।[3]

ईश्वरकी सत्ता भी व्यावहारिक है। जगत्की भांति ईश्वर भी ब्रह्मका विवर्त है और ज्ञानीके लिए उसका कोई महत्त्व नहीं है। अद्वैतके अनुसार मोक्ष प्राप्त करने योग्य कोई नवीन अवस्था नहीं है। वह तो जीव की सच्ची प्रकृति ही है और उसको प्राप्त करनेका कोई साधन नहीं बताया जा सकता। ज्ञानसे ही उसका साक्षात्कार हो सकता है। साक्षात्कार होनेसे अविद्या नष्ट हो जाती है और तब व्यक्ति अपने अन्दर सदासे निहित सत्यको जान लेता है। साक्षात्कारके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन आवश्यक हैं।

किन्तु अविद्याके नष्ट होनेका क्या अर्थ लगाया जाय ? अविद्याका अर्थ यदि विद्याका अभाव है तो अविद्याके नष्ट होनेकी बात करना व्यर्थ है। किसी वस्तुका निरोध तभी हो सकता है जब उस वस्तुकी भावात्मक सत्ता संभव हो। अविद्या विद्याका अभाव न होकर एक भावरूप वस्तु है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है और जिसे अनुमानसे सिद्ध किया जा सकता है। 'मुझे तुम्हारी बात समझमें नहीं आती' इस कथनमें अविद्या-

---

१ दे०, रत्नावली; पृ० ११४

२ दे०, सांख्यप्रवचनभाष्य; १।१५२–५३।

३ दे०, शंकर, बृहदा० उप० भाष्य; २।१

की भावरूप सत्ताकी प्रत्यक्ष अनुभूति विद्यमान है। इस कथनमें किसी बातका निरोध निहित नहीं है।[1]

ज्ञानसे अविद्याका नाश मानना असंगत है। यदि ज्ञानसे अविद्याका नाश होना माना जाय तो ब्रह्मके साथ साथ अविद्याके नाश होनेको भी सत् मानना पड़ता है। यह अद्वैतकी शिक्षाके प्रतिकूल है क्योंकि अद्वैतके अनुसार एक ब्रह्म ही सत् पदार्थ है। अविद्याका अत्यन्ताभाव भी नहीं माना जा सकता क्योंकि तब ज्ञान नष्ट किसे करेगा ? (नाऽप्यसति ज्ञान-साध्यत्वयोगात्)। विरोधाभाससे बचनेके लिए अविद्याको एक साथ सत् और असत् दोनों नहीं माना जा सकता (नाऽपि सद्असद्रूपविरोधात्)। सुरेश्वरके मतसे[2] अविद्याका नाश होना ही ब्रह्म है (आत्मैव इति)। औरोंके मतानुसार[3] अविद्यानिवृत्ति भी अनिर्वचनीय है।

(ग) विशिष्टाद्वैत

विशिष्टाद्वैतके प्रतिपादक रामानुजका जन्म १०८४ संवत्के लगभग हुआ था। रामानुजने ब्रह्मसूत्रोंपर 'श्रीभाष्य' तथा गीता आदिपर भी भाष्य लिखे हैं। रामानुजकी विचारधारा अद्वैतके निर्गुण ब्रह्मके विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। मनुष्यका हृदय ऐसे सत्यको ग्राह्य करनेको तैयार नहीं जिसमें उसकी कोमल भावनाओंका स्थान न हो। उसकी भक्ति और दुःखोंसे उदासीन सत्य उसको क्या प्रेरणा दे सकता है ! यदि जगत्

---

१ त्वदुक्तार्थज्ञानाभावस्य वाऽनाभ्युपगमे तद्विषयज्ञानसत्त्वेन तद्व्यवहारापत्तेश्च; न चैवं दृश्यते; स्वतःप्रामाण्यपक्षे तु तत्प्रकारकत्वे तद्विशेषकत्वे तु गृह्यमाणे तद्वत्वग्रहणस्य आवश्यकता तदंशे तत्प्रकारक-तद्विशेष्यकत्वस्य तादृशप्रतियोगिज्ञाने सम्भवात् स्पष्ट एव व्याघातः भावरूपज्ञानपक्षे तु सर्वस्याऽपि साक्षिवेद्यतया न व्याघातः——अद्वैतसिद्धि।

२ दे०, ब्रह्मसिद्धि।

३ दे०, सिद्धान्तलेश।

मिथ्या है, यदि हमारी स्वयं कोई सत्ता नहीं है तो हम संसार-सागरमें पड़ी हुई पतवाररहित नौकाके समान कितने विवश हैं और हमारे सारे कर्म कितने अर्थहीन हैं ! अद्वैतका तटस्थ और अनुदार दृष्टिकोण हमें उत्साहित करनेके वजाय निरुत्साहित ही करता है। रामानुजने सगुण ब्रह्मका दृष्टिकोण उपस्थित कर जीव और जगत्की स्वतंत्र सत्ताकी रक्षा की है।

रामानुजके अनुसार ज्ञानमें ज्ञाता और ज्ञेय दोनों होते हैं। ज्ञानमें भेद करना अत्यन्त आवश्यक है। मनस्के लिए भेद न की गई वस्तुको समझ लेना असम्भव है। हरेक वस्तुका ज्ञान उसकी किसी विशेषताके द्वारा ही होता है।[1] न्यायवैशेषिकके अनुसार प्रत्यक्ष पहले निर्विकल्पक होता है। पहले हम किसी वस्तुको उसकी अलग अलग इकाइयोंमें देखते हैं। रामानुज इससे सहमत नहीं हैं। जब हम पहले पहल गायको देखते हैं तब भी उसे कोई न कोई विशेषता लिए ही देखते हैं। यह प्रत्यक्षकी निर्विकल्पक अवस्था है। दूसरी बार जब हम गायको देखते हैं तो उसी क्षण हमें पहले देखी हुई गायका स्मरण हो आता है। इस बार हम पहले देखी हुई गायके प्रकाशमें गायको देखते हैं और समझ जाते हैं कि यह भी गाय है। पहली वस्तुके प्रकाशमें दूसरीको देखना ही सविकल्पक प्रत्यक्ष है। जगत्की वस्तुओंके अतिरिक्त पारमार्थिक सत्यका ज्ञान भी सगुणरूपमें ही होता है।

ज्ञान वस्तुको प्रदर्शित मात्र ही कर सकता है। प्रकाशके समान ज्ञान अपनी उपस्थितिके साथ वस्तुकी उपस्थिति भी करा सकता है किंतु स्वयं न तो अपने आपको जान सकता है और न वस्तुको ही। ज्ञान न तो जड़ है और न चेतन ही। वह जड़ और चेतनके बीचकी चीज़ है। जाननेका व्यापार आत्मासे प्रारम्भ होकर मनस् तक पहुँचता है और तब इन्द्रियों द्वारा निकलकर वाह्य वस्तुओंके सम्पर्कमें आकर आकार धारण करता है। ज्ञान अपने लिए न होकर ईश्वर या जीवके लिए होता

---

१ सविशेषवस्तुविषयत्वात् सर्वं प्रमाणम्।

है। ज्ञान ईश्वर या जीवकी प्रमुखता है और उसे धर्मभूत ज्ञान कहा गया है। धर्मभूत ज्ञान अपने ज्ञातासे सदा सम्बन्धित रहता है। ज्ञाता होनेका अर्थ है ज्ञान (गुण)का आधार होना। और चूंकि ज्ञाता नित्य है अतएव उसका गुण–ज्ञान–भी नित्य है। ज्ञान स्वप्रकाश तो है किंतु वह वेद्य भी है। जीव केवल ज्ञाता ही है, ज्ञानस्वरूप नहीं। ज्ञान किसी वस्तुके सम्बन्धके विना नहीं हो सकता। नींदमें ज्ञान नहीं होता क्योंकि नींदमें पदार्थ नहीं होते। जागनेपर नींदमें अपनी अचेतनताके अनुभवसे यह स्पष्ट है कि नींदमें अहंकारकी उपस्थिति रहती है। अनुपस्थिति केवल ज्ञानके विषयों की ही होती है।[१] जीव ज्ञानस्वरूप न होकर ज्ञाता या ज्ञानका विषय ही है।

वस्तुओंकी सत्ता ज्ञानपर निर्भर नहीं है। वस्तुओंकी सत्ताको ज्ञान-की अपेक्षा नहीं है। ज्ञान सदा यथार्थताका ही होता है।[२] तो भ्रम कैसे होता है? भ्रमकी व्याख्या रामानुजने सद्ख्यातिसे की है। सद्-ख्यातिके अनुसार जो होता है उसे ही जाना जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जो है वह पूर्णरूपसे जाना जाता है। भ्रम अपूर्ण ज्ञानसे होता है। सत्य वही नहीं है जो यथार्थ हो, उसे व्यवहारानुगुण भी होना चाहिए।[३] भ्रमका पता लगनेपर उसका प्रभाव चेतनताके प्रतिक्रियात्मक पक्षपर ही पड़ता है, ग्राह्यपक्षपर नहीं।

जिस वस्तुमें गुण हों वह द्रव्य कहलाती है। उस वस्तुके आधारको द्रव्य कहते हैं और आधेयको अद्रव्य। 'प्रकार' और 'सम्बन्ध' अद्रव्य हैं। द्रव्य उपादानकारण बन सकता है, किन्तु अद्रव्य नहीं बन सकता।[४] अद्रव्य दश हैं। पाँच भूतोंकी विशेषताएँ, तीन गुण, शक्ति और संयोग।

---

१ श्रीभाष्य, १।१।१।

२ सर्वं विज्ञानजातं यथार्थम्।

३ दे०, यतीन्द्रमतदीपिका।

४ तत्त्वमुक्ताकलाप, ५।२।

द्रव्य छह हैं : प्रकृति, काल, शुद्धसत्व, धर्मभूत ज्ञान, जीव और ईश्वर।[1] पहले तीन द्रव्य जड़ हैं। जीव और ईश्वर अजड़ हैं। धर्मभूतज्ञान जड़ और अजड़ दोनों है।

प्रकृति जीव या ईश्वरके सर्वथा अधीन है।[2] यहाँ प्रकृतिके तीन गुण सांख्यकी भाँति उसके निर्माता न होकर उसकी विशेषताएँ हैं। शुद्ध-सत्व प्रकृतिकी दिव्यता है। मानसिक जगत्की सृष्टि शुद्ध सत्त्वसे ही होती है। ईश्वर सर्वव्यापक है। रामानुजने ईश्वरको विष्णु (जो व्यापक हो) कहा है और उसमें वैयक्तिकता मानी है।

किसी द्रव्यके आधेय तत्त्व विशेषण कहलाते हैं और उसमें जिस तत्त्व-की प्रधानता होती है वह विशेष्य कहलाता है। विशेषणोंकी अपनी कोई सत्ता नहीं होती। वे सब जिससे सम्बद्ध रहते हैं वह 'विशिष्ट' होता है और उसमें एकता रहती है। नीलापन और कमल दो स्वतंत्र वस्तुएँ हैं। किन्तु नीलापन एक गुण है जो अपनी सत्ताके लिए किसी द्रव्य—यहाँ कमल—पर अवलम्बित रहता है। गुण और द्रव्यका सम्बन्ध वाह्य नहीं होता। उनमें अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध होता है। अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध समवायकी भाँति वाह्य न होकर आन्तरिक होता है। कमल और नीलेपनमें भेद होते हुए भी आन्तरिक सम्बन्ध है। कमल विशिष्ट है और उसमें नीलेपनका गुण आवश्यक रूपसे निहित होनेपर भी एकता रहती है।

परिवर्तनशील होनेसे जगत्का कोई आधार होना चाहिए। वह आधार जीव या ईश्वर है और जगत् आधेय है। आधेय होनेसे सारा जगत् ईश्वरका विशेषण है। परम् दृष्टिसे जगत्के सारे पदार्थ ईश्वर-का विशेषण होनेसे अद्रव्य हैं। दूसरी ओर वे द्रव्य भी हैं क्योंकि उनके भी गुण, कर्म आदि होते हैं। विशेषण होनेके नाते चित् और अचित् समान-

१ वही, १।६।

२ सर्वार्थसिद्धि, १।१६।

रूपसे परम होते हुए भी ईश्वरपर पूर्णतः अवलम्बित हैं। उनका यह सम्बन्ध अपृथक्सिद्धि है। ईश्वर विशेष्य है। जीव और जगत् उसके विशेषण हैं। जीव, जगत् और ईश्वरमें भेद होते हुए भी आन्तरिक संबंध है। अद्वैतके प्रतिकूल रामानुजने भेदको सत्य माना है। जीव (भोक्ता), पुद्गल (भोग्य) और ईश्वर (प्रेरिता) स्वरूपभेदके कारण तीन अलग अलग पदार्थ हैं। किन्तु परस्पर विशेष्य-विशेषण होनेसे उनमें एकता है। उनकी यह एकता ही उनकी अपृथक्सिद्धि है। सत्य अद्वैत तो है किन्तु विशिष्टरूपसे। इसी कारण रामानुजकी विचारधारा विशिष्टाद्वैत कहलाती है। जीव और जगत्की अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी है। जीव परमाणुरूप होता है।[1] वह ज्ञाता, कर्त्ता तथा भोक्ता है। अपने पार्थिव जीवनमें वह स्थूल शरीरसे संबंधित रहता है। उसका स्वभाव उसके पूर्वजन्मों और अन्य दोषोंके कारण सीमित रहता है।[2]

रामानुजने मायावाद और जगत्की प्रातिभासिक सत्ताको स्वीकार नहीं किया है। मायाकी धारणा व्यर्थ है क्योंकि मायाका कोई आश्रय नहीं है। मायाका आश्रय ब्रह्म नहीं हो सकता क्योंकि वह पूर्ण है; जीव भी नहीं हो सकता क्योंकि अद्वैतके अनुसार जीव स्वयं मायाकी उत्पत्ति है। ब्रह्मके ज्ञानसे अविद्याका नाश होना माना गया है। किन्तु प्रकार-रहित और निर्गुण होनेसे अद्वैतके ब्रह्मका ज्ञान ही नहीं हो सकता, मायाका नाश क्या होगा? जगत्की अनेकताको मृगमरीचिकाकी भाँति समझना अनुचित है। हम बहुधा बाध और भेदको समझनेमें गलती करते हैं। यदि दो वस्तुओंमें बाध है तो वे सत्य नहीं हो सकतीं। घड़ा, कपड़के टुकड़े और जगत्की अन्य वस्तुओंकी सत्ता स्थान और कालमें अलग अलग होनेसे उनमें परस्पर बाध नहीं है। बाध किसी वस्तुके भाव और अभाव दोनोंको एक ही स्थान और कालमें देखनेपर होता है। किन्तु यदि वस्तुओं-

१ यतीन्द्रमतदीपिका, ८ और श्रीभाष्य, २।३।१८।

२ दे०, सेश्वर मीमांसा।

का भाव और अभाव अलग अलग स्थान और कालमें होता है तो उन वस्तुओंमें बाध नहीं होता।[1] शंकरकी भांति रामानुजने भी 'तादात्म्य'में विश्वास किया है[2] किन्तु रामानुजके मतसे 'तादात्म्य'में भी भेद और गुण होते हैं, केवल वाध और अभाव नहीं होता।

विशिष्टाद्वैतका कार्यविषयक दृष्टिकोण सत्कार्यवाद कहलाता है। हरेक कार्यका उपादान कारण होता है और उसकी सत्ता कार्यके पहले होती है। अवस्थाका अन्तर होना ही कार्य है।[3] सम्पूर्ण जगत् विना किसी बाहरी सहायताके ईश्वरके अन्दरसे विकसित हुआ है। तो क्या ईश्वर परिवर्तनशील है? नहीं। परिवर्तन केवल विशेषणका ही होता है। विशेष्य अपरिवर्तनशील रहता है। ईश्वर विशेष्य होनेसे अपरिवर्तनशील है। परिवर्तन धर्मभूतज्ञानके आकुंचन तथा प्रसारणसे होता है।[4] किन्तु इससे ईश्वर या जीवके स्वभावमें कोई अन्तर नहीं आता। परिवर्तन का आधार होनेसे धर्मभूतज्ञान द्रव्य है और ईश्वर या जीवका आधेय होनेसे गुण।

जीवका अपनी सीमिततासे छूट जाना ही मोक्ष है। मुक्त आत्माएँ ईश्वरकी भांति हो जाती हैं किन्तु ईश्वर नहीं होतीं।[5] अहंकार ही मोक्षके विरुद्ध है, वैयक्तिकता नहीं। मोक्षमें जीवके गुणों और ज्ञानकी पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है। मोक्षमें सव जीव एकसे ही हो जाते हैं। संसारमें पुद्गलसे सम्वंधित रहनेसे जीवोंमें भेद होता है। पुद्गलसे उनका सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है और वे उस सम्बन्धसे मुक्त हो सकते

---

१ देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयानुभूतस्यान्यदेशकालयोर् अभावप्रतिपत्तौ न विरोधः।

२ दे०, शंकरभाष्य; २।२।३३ और श्रीभाष्य; २।२।३१।

३ अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता।

४ दे०, श्रीभाष्य; २।३।१८।

५ ब्रह्मणो भावः न तु स्वरूपैक्यम्।

हैं ।[१] दैहिकसम्वन्धके कारण जो वैयक्तिकता होती है वह नित्य नहीं है । मोक्षसे जीवमें कोई नवीनता उत्पन्न नहीं होती ।[२] देहिक वैयक्तिकतासे छट जानेपर जीवका स्वभाव ही पूर्ण रूपसे अभिव्यक्त हो जाता है ।

(घ) द्वैत

द्वैत वेदान्तके प्रतिपादक मध्वका समय १२५६ से १३३५ संवत् है । मध्वने वेदान्तसूत्रोंपर 'सूत्रभाष्य' तथा 'अनुव्याख्यान' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं । जयतीर्थने मध्वके इन दोनों ग्रन्थोंपर 'न्यायसुधा' नामक महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है ।

मध्वने तीन प्रमाण माने हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द । ज्ञान इन्द्रियों-द्वारा होता है । इन्द्रियां सात हैं । साक्षी और मनस् भी इन्द्रियां हैं । साक्षीको इन्द्रिय मानना द्वैतकी विशेषता है। साक्षी चेतन तत्त्व है। साक्षीको प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है और वह सदा सत्य होता है । साक्षी अपने आपको स्वयं जान सकता है । द्वैतका यह दृष्टिकोण अद्वैतके प्रतिकूल है क्योंकि अद्वैतके अनुसार साक्षी ज्ञानका विषय नहीं बन सकता । द्वैतमें ज्ञाता और ज्ञेयमें तादात्म्य माना गया है । साक्षी व्यंजक भी होता है और व्यंज्ञ भी ।

द्वैतमें ज्ञानके उत्पन्न होनेकी विधिकी व्याख्या न्यायवैशेषिककी भांति ही की गई है । किन्तु द्वैतकी ज्ञानकी धारणा न्यायवैशेषिकसे सर्वथा भिन्न है । न्यायवैशेषिकके अनुसार ज्ञान जीवमें इन्द्रियोंद्वारा विषयके सम्पर्कमें आकर उत्पन्न होनेवाला गुण है । द्वैत ज्ञानको मनस्का प्रकार मानता है । ज्ञान मनस्की ही विशेषता है, जीवकी नहीं । द्वैतका ज्ञानविषयक यह दृष्टिकोण विशिष्टाद्वैतके प्रतिकूल है जहां ज्ञानको जीवकी प्रमुखता माना गया है । ज्ञान सगुण वस्तुका ही होता है और किसी निर्गुण

---

१ कर्मरूपज्ञातमूलः न स्वरूपकृतः ।
२ दे०, श्रीभाष्य; ४।४।१ ।

तत्वको मानना सर्वथा अनुचित है। द्वैतका यह दृष्टिकोण विशिष्टाद्वैत से मिलता है।

सत्य वही है जो देश और कालमें हो। यथार्थता ही प्रमाकी परख है। स्वप्न और प्रत्यभिज्ञा भी प्रमा हैं किन्तु उनमें वाह्यताकी जो प्रतीति होती है वह भ्रम है। स्वप्नमें देखा गया हाथी तो सत्य है किन्तु स्वप्नमें हाथीको किसी स्थानविशेषमें देखना असत्य है। स्वप्नके पदार्थ सत्य इसलिए हैं कि बादमें उनका बाध नहीं होता। प्रत्यभिज्ञा ज्ञान भी सत्य है। वह असत्य तभी होता है जब किसी अतीत वस्तुको वर्तमानमें या दूरस्थ वस्तुको समीप समझा जाता है।

द्वैतका भ्रमका दृष्टिकोण अभिनवान्यथाख्याति कहलाता है। इस दृष्टिकोणमें और न्यायवैशेषिकके अन्यथाख्यातिमें केवल एक ही अन्तर है। अन्यथाख्यातिके अनुसार सांपकी सत्ता जहां उसकी प्रतीति होती है (रस्सीमें) वहां न होकर अन्य कहीं होती है। द्वैत इस व्याख्यासे सहमत है किन्तु सांपकी अन्यत्र सत्ताको व्यर्थ मानता है। द्वैतके अनुसार भ्रम तभी होता है जब किसी वस्तुका सर्वथा अभाव होनेपर भी उसका भाव मान लिया जाय। सत्यज्ञान होनेपर पता चलता है कि साँपका सर्वथा अभाव था किन्तु फिर भी उसका भाव मान लिया गया था। भ्रमके पदार्थ न तो वहाँ होते हैं जहाँ उनकी प्रतीति होती है और न और ही कहीं। किन्तु भ्रमका विषय—अभाव—होता है। द्वैतके मतसे अभावका ज्ञान भी संभव है। किसी वस्तुको असत् कहनेका अर्थ है कि हमें उसका असत् रूपमें ज्ञान है। भ्रमके पदार्थ तो असत्य होते हैं किन्तु भ्रमका ज्ञान सत्य होता है। भ्रमके पदार्थोंकी असत्यता भ्रमके ज्ञानकी असत्यताको नहीं घोषित करती जैसा कि अद्वैतमें माना गया है।

द्वैतमें दस पदार्थ माने गए हैं[१] : द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशिन, शक्ति, सादृश्य और अभाव। इन दसों पदार्थोंमें द्रव्य

१ दे०, मध्वसिद्धान्तसार, २

और विशेष अत्यन्त महत्त्वके हैं। द्रव्य बीस हैं किन्तु उनमेंसे तीन ही आवश्यक हैं: ईश्वर, जीव और प्रकृति।

ईश्वरको द्वैतमें विष्णु कहा गया है। विष्णुको पूर्णरूपसे नहीं जाना जा सकता।[1] किन्तु विष्णु अद्वैतके ब्रह्मकी भांति समझसे बिल्कुल बाहर नहीं है। वह सत्, रजस् और तमस्से परे हैं। उसमें वैयक्तिकता है किन्तु वह निरपेक्षित प्रकारकी है। जगत्के कार्य उसीके प्रसादसे होते रहते हैं। यद्यपि वह 'एक' है तथापि अपनी इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर सकता है। वह जगत्का निमित्तकारण है।

जीवोंकी संख्या अपरिमित है। प्रत्येक जीव एक दूसरेसे भिन्न हैं जो उनके अनुभवोंके भेदसे स्पष्ट है। हरेक जीव परमाणुरूप है। जीव और ईश्वरमें भेद तो है किन्तु यह भेद पुद्गल और ईश्वरके भेदकी भाँति निरपेक्षित नहीं है, क्योंकि ईश्वरकी भाँति जीवोंमें भी चेतनता और आनन्द रहता है। अद्वैतके प्रतिकूल द्वैतमें जीव और ईश्वरका स्वभाव एक नहीं माना गया है। जीव और ईश्वरमें सादृश्य मात्र ही है।

प्रकृति भौतिक जगत्का उपादानकारण है। वह नित्य तथा जड़ है। तीन गुण प्रकृतिकी पहली उत्पत्ति हैं, विशिष्टाद्वैतकी भाँति उसकी विशेषताएँ नहीं।

द्वैतमें कार्यका दृष्टिकोण सदासद्कार्यवाद कहलाता है, जो अद्वैत, न्यायवैशेषिक और सांख्य आदिके दृष्टिकोणसे भिन्न है। उत्पत्तिसे पहले कार्यका न तो भाव होता है और न अभाव; किन्तु भाव और अभाव दोनों ही होते हैं। कार्य सत् भी होता है और असत् भी। उत्पत्तिसे पहले कार्यका कारण रूपमें भाव होता है और कार्य रूपमें अभाव; उत्पत्तिके बाद कार्यरूपमें भाव और कारणरूपमें अभाव। यह दृष्टिकोण बाधित नहीं है। क्योंकि 'भाव' और 'अभाव'को एक ही पक्षसे स्वीकृत नहीं किया गया है।

---

१ दे०, सूत्रभाष्य; १।१।५।

द्रव्य और 'प्रकार'में दो तरहका सम्बन्ध होता है। कुछ 'प्रकार' द्रव्यके साथ सदा रहते हैं। उनका सम्बन्ध तादात्म्य होता है, जैसे पौद्गलिक वस्तु और उसका भार। कुछ 'प्रकार' द्रव्यके साथ सदा नहीं रहते। इस दशामें उनका सम्बन्ध तादात्म्य और भेदका होता है। जब तक 'प्रकार' द्रव्यके साथ रहते हैं तबतक उनका सम्बन्ध तादात्म्य होता है; जब वे द्रव्यके साथ नहीं रहते तो भेदका। इससे यह नतीजा निकलता है कि नित्य वस्तुकी मुख्यताओंको भी नित्य होना चाहिए।

पौद्गलिक पदार्थ और उसके भारके सम्बन्धकी तीन व्याख्याएँ संभव हैं। पदार्थ और भारमें तादात्म्य है, भेद है या भेदाभेद है। किन्तु हम वहुधा पदार्थ और भारको अलग अलग समझते हैं और उनमें भेद करते हैं। पदार्थ और भारमें तादात्म्य माननेपर उनका यह भेद तादात्म्यकी धारणाके विरुद्ध पड़ता है। वस्तुतः पदार्थ और भारमें भेद होता नहीं है किन्तु उपर्युक्त विरोधसे बचनेके लिए उनमें भेद किया अवश्य जाता है। पदार्थ और उसके भारमें जिसके द्वारा भेद किया जाता है द्वैत उसे 'विशेष' नाम देता है।

यदि पदार्थ और भारमें भेद माना जाय तो पदार्थ और भारका भेद पदार्थका विशेषण होनेसे स्वयं 'प्रकार' वन जाता है। इस तरह 'भेद'को 'भार'से अलग होना चाहिए क्योंकि यहां द्रव्य और प्रकारमें भेद मान लिया गया है। दूसरे शब्दोंमें पहले 'भेद'की व्याख्याके लिए दूसरे 'भेद'को मानना पड़ता है। इसी तरह दूसरे 'भेद'की व्याख्याके लिए तीसरे 'भेद'को मानना पड़ेगा और अनवस्था दोष हो जायगा। इससे बचनेके लिए यह मानना पड़ता है कि द्रव्य और प्रकार के भेदको समझनेके लिए उसके आश्रयसे उसका भेद करनेकी आवश्यकता नहीं है। पदार्थ और उसका भार लगती तो दो चीजें हैं किन्तु उनमें भेद करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह व्याख्या उन सब दशाओंमें भी लागू होती है जहां भेद होता तो नहीं है किन्तु किया अवश्य जाता है। भेद और विशेषमें

अन्तर है। समान वस्तुओंमें विशेषके द्वारा ही भेद किया जाता है। द्वैतकी विशेषकी धारणा और न्यायवैशेषिककी विशेषकी धारणामें अन्तर है। न्यायवैशेषिकके अनुसार पदार्थोंमें परस्पर भेद होता है और विशेष उसी भेदकी व्याख्या करता है। द्वैतमें विशेष दो वस्तुओंमें किए गए भेदकी व्याख्या करता है यद्यपि उन वस्तुओंमें भेद होता नहीं है। भेदाभेदकी व्याख्या बाधित होनेसे व्यर्थ है।

द्वैतमें भेदकी धारणाका बड़ा महत्त्व है। अद्वैत भेदकी धारणाको नहीं मानता, क्योंकि भेदकी धारणा सापेक्ष है और भेदकी गई वस्तुओंके बिना समझमें नहीं आ सकती। अद्वैतमें भेदको सापेक्ष होनेसे प्रातिभासिक माना गया है। द्वैतके मतसे सापेक्षताका प्रश्न इसलिए उत्पन्न होता है कि भेदको दो वस्तुओंमें सम्बन्ध स्थापित करनेवाली कोई अन्य तीसरी चीज़ समझा जाता है। किन्तु यह ठीक नहीं है। मेज़ मेज़ इसीलिए है क्योंकि वह खाट या किताब इत्यादि नहीं है। मेज़ और उसका अन्य वस्तुओंसे 'भेद' अलग अलग बातें नहीं हैं। उसका अन्य वस्तुओंसे 'भेद' ही 'वह' (अर्थात् मेज़) है। वास्तवमें 'भेद' ही पदार्थ विशेष या उसका स्वरूप होता है। फिर भी उनमें जो भेद किया जाता है वह उनका एक विशेष प्रकारका तादात्म्य ही है। इसे सविशेषाभेद—विशेषसे सम्बन्धित तादात्म्य—कहा गया है।

जगत्की प्रत्येक वस्तुका अपना अलग स्वरूप है और इसी स्वरूपके कारण उसका अन्य वस्तुओंसे भेद होता है। परम् भेद केवल पांच तरहका होता है: ईश्वर और जीवमें, ईश्वर और पुद्गलमें, जीव और पुद्गलमें, परस्पर जीवोंमें और पुद्गलके अपने अनेक रूपोंमें। किन्तु भेदका यह अर्थ नहीं है कि सब वस्तुएँ स्वतंत्र हैं। यद्यपि शरीर और जीवमें भेद है तथापि शरीर जीवपर निर्भर है। इसी प्रकार जगत् ईश्वरपर निर्भर है। स्वतंत्र वस्तु वही है जिसकी अपने आपमें सत्ता हो, जो स्वयं जान सके और कर्म

कर सके।[1] ऐसी वस्तु ईश्वर ही है। सब चीजोंकी सत्ता, ज्ञान और क्रिया ईश्वरकी इच्छापर ही निर्भर है। ईश्वर जगत्से परे न होकर जगत्में ही है और अन्दरसे ही जगत्का संचालन करता है। केवल ईश्वरको ही स्वतंत्र माननेसे द्वैतका अनेकवाद न्यायवैशेषिकके अनेकवादसे बिल्कुल भिन्न है। न्यायवैशेषिकमें बहुत सी वस्तुओंको स्वतंत्र माना गया है।

संसारकी उत्पत्ति अविद्यासे हुई है जो अनादि है। अविद्या बीस द्रव्योंमेंसे एक है। अविद्या मनुष्यसे ईश्वरका स्वरूप ही नहीं छिपाती (परमाच्छादिक), वह मनुष्यसे उसका अपना स्वरूप भी छिपाए रखती है (जीवाच्छादिक)। अविद्याके इसी आवरणसे छट जाना मोक्ष है। मोक्षप्राप्तिके लिए ईश्वरकी भक्ति और किसी गुरुकी शरणमें जाकर श्रवण, मनन और ध्यान करना आवश्यक है।

---

१ स्वरूपप्रमितिप्रवृत्ति लक्षणसत्तात्रैविध्ये, परानपेक्षं स्वतन्त्रं तदपेक्षं परतन्त्रम्। (तत्त्वसंख्यानम् पर टीका)

निर्देशिका

श

ह

क्ष

त्र

ज्ञ

सहायक ग्रन्थ

Winternitz,	History of Indian Literature.
Dasgupta, S. N.,	History of Indian Philosophy.
Radhakrishnan,	Indian Philosophy.
Hiriyanna,	Outlines of Indian Philosophy.
Ranade, R. D.,	A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy.
Tilak, B. G.,	Gita Rahasya.
Jaini, J. L.,	Outlines of Jainism.
Coomarswamy,	The Buddha and the Gospel of Buddhism.
Stcherbatsky,	The conception of Buddhist Nirvan.
Rhys David,	Buddhism.
Sogen, Y.,	Systems of Buddhistic Thought.
Suzuki,	The Mahayan Buddhism.
Keith, A. B.,	Indian Logic and Atomism.
Seal, B. N.,	The Positive Sciences of the Ancient Hindus.
Max Muller,	Six Systems of Indian Philosophy.
Deussen,	The system of the Vedanta.
Thibaut,	The Vedanta Sutra with Sankara's Commentary.
Urguhart,	The Vedanta and Modern Thought.
Kirtikar,	Studies in Vedanta.
Carpenter,	Theism in Mediaeval India.